❀ ओ३म् ❀

सुख शान्ति रहस्य

विज्ञान बुद्धि योग तथा जीवन की सफल

यात्रा के सरल साधन

मोहन आश्रम हरिद्वार

प्रकाशक

कविराज हरनामदास जी

आर्य्योपदेशक महाविद्यालय, हरिद्वार

१९४४

ओ३म्

विज्ञान बुद्धि प्रकाश

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु० अ

सर्व जगदुत्पादक सर्वशक्तिमान परमेश्वर हमारे सब दुःख दुर्व्यसन और दुर्गुणों को दूर कर दीजिये और जो (भद्रं) कल्याण कारी गुण कर्म स्वभाव तथा (अभ्युदय) चक्रवर्ती राज्य इष्ट, मित्र धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से परम सुख का होना और निःश्रेयस जिसको कि मोक्ष कहते हैं ... प्राप्त कराइये।

अर्थकामेष्वसक्ता... धीयते।

धर्मं जिज्ञासमानानां ... श्रुतिः ॥ मनु० २।१३

जो ... (अर्थ) ... स्त्री सेवनादि में नहीं फंसते ... ज्ञान प्राप्त होता है जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा निश्चय करें क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक २ नहीं होता।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सांख्य

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ भ. गी. ४-३८

जब तक विज्ञान नहीं तब तक ठीक-ठीक कर्म नहीं हो सकता; और जब तक ठीक २ कर्म न हो उपासना नहीं हो सकती और जब तक उपासना न हो तब तक उसके गुणों को भली प्रकार अपने

आत्मा में अनुभव नहीं कर सकते। सुनना, निश्चय करना, चलना पहुँचना जैसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार।

प्र०—ज्ञान क्या वस्तु है।

उ० **यथार्थ दर्शनं ज्ञानमिति** ज्ञान से उद्देश्य का ध्यान होना फिर प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होना।

जन्माद्यस्ययतः ॥ १-१-२ शारीरिक सूत्र

जिससे इस जगत का जन्म, स्थिति, और प्रलय होता है वही ब्रह्म जानने योग्य है।

प्र०—यह जगत परमेश्वर से उत्पन्न हुआ वा अन्य से।

उ०—निमित्त कारण परमेश्वर है परन्तु उपादान कारण प्रकृति है।

प्र०—क्या प्रकृति परमे[illegible] [illegible]न्न नहीं हुई।

उ०—नहीं वह अना[illegible]

प्र०—अनादि किस[illegible] [illegible]कितने पदार्थ अनादि हैं।

उ०—जिसका [illegible] वा समय न हो वह अनादि कहलाता है सो ईश[illegible] [illegible]र्थ अनादि हैं इसमें प्रमाण—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥१॥
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ यजु० ४०-८ ऋ० १-१६४ मं० २० ॥

उ०—जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रता युक्त सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही तीसरा (वृक्षम्) अनादिरूप मूलकारण प्रकृति और शाखा

रूप कार्य वृक्ष जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न भिन्न हो जाता है यह तीनों अनादि और उनके गुण कर्म स्वभाव भी अनादि हैं इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह इस वृक्ष रूप संसार में पाप पुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति); अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा अभोग न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनों अनादि हैं ॥१॥ शाश्वती) अर्थात् अनादि सनातन जीव रूप प्रजा के लिये वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥२॥

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमाना स्वरूपाः । श्वेता अ० ४२

यह उपनिषद् का वचन है । प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिन[illegible] नहीं होता और न कभी ये नष्ट होते अर्थात् ये तीन जग[illegible] ण हैं इनका कारण कोई नहीं इस अनादि प्रकृति [illegible] जीव करता हुआ फंसता है उसमें परमात्मा न फस[illegible] ता है ।

प्र[illegible] [illegible] सिद्धि किस प्रकार करते [illegible]

उ०—सब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ।

प्र०—ईश्वर में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कभी घट नहीं सकते ?

उ०—इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ न्याय० अ० १।४।१६

यह गौतम महर्षि कृत न्याय दर्शन का सूत्र है जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध,

सुख, दु:ख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से रूप, स्पर्श, रस और गंध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि मे रचना विशेष ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता है वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण मे आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छा विषय पर झुक जाती है उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्[illegible] [illegible] है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमा[illegible] [illegible] से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का [illegible] [illegible] होता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष हो[illegible] [illegible] का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमान आदि से [illegible] [illegible] में क्या संदेह है? क्योंकि कार्य को दे[illegible] [illegible] है।

जीवात्मा के अस्तित्व में प्रमाण।

इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः॥ वै० ३-१-२

भाष्य—इंद्रिय तथा उनके गन्धादि विषयों में 'यह घ्राण है' 'यह गन्ध है' इस प्रकार का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न पदार्थ की सिद्धि में हेतु है अर्थात् जैसे छिद्र क्रिया के साधनभूत कुठारादिकों का भोक्ता उनसे भिन्न होता है वैसे ज्ञान के साधनभूत

घ्राणादि इन्द्रियों का प्रेरक उनसे भिन्न है क्योंकि जो 'प्रेरक है वह साधनों से भिन्न होता है' यह नियम हैं इस नियम के अनुसार जो घ्राणादि इन्द्रियों का गन्धादि विषयों में प्रेरणा करने वाला उनसे भिन्न पदार्थ हैं वही आत्मा है और जो गुण है, वह द्रव्य के आश्रित होता है द्रव्य को छोड़कर गुण कदापि नहीं रहता, इस नियम के अनुसार 'यह घट है' 'यह रूप है' इत्यादि ज्ञानो का आश्रय भी पृथिवी आदि आठ द्रव्यों के अतिरिक्त कोई द्रव्य अवश्य होना चाहिये क्योंकि पृथिवी आदि आठ द्रव्य और उनके कार्यभूत शरीरादि उक्त ज्ञान के आश्रय नहीं हो सकते इसलिये जो उक्त ज्ञान का आश्रय द्रव्य है वही आत्मा है ।

तदव्यवस्थानादेवात्म सद्भावाद् प्रतिपेधः ॥ न्या० ३।१।३

यदि एक इन्द्रिय सम्पर्ण विषयों को ग्रहण करने वाली होती तो इस दशा में चेतन [illegible] आवश्यकता न होती परन्तु जब एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय [illegible] यों को अनुभव नहीं करती तो किस प्रकार एक इन्द्र [illegible] इन्द्रिय के ज्ञान का मिलान हो सकता है इसलिये य [illegible] क ने वाला जीवात्मा अवश्य है. जैसे कर्ण [illegible] जैसा [illegible] यों से प्रत्यक्ष किया।

"देहादि [illegible] वैचित्र्यात्" । सां० ६।१

वह आत्मा शरीर से नितान्त भिन्न वस्तु है क्योंकि शरीर व आत्मा भिन्न धर्म वाले हैं शरीर परिणामी और आत्मा अपरिणामी है यह अनुमान और शास्त्रों के पमाणों से भी सिद्ध है और आत्मा का अपरिणामी होना तो सदैव जाने हुये विषय का ज्ञाता होने से विदित होता है । तत्काल जन्मा बालक जिसने इस जन्म में अभी हर्ष शोकमय आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है पर हर्ष-भय-शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्व जन्म

में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबंध से ही उत्पन्न होते हैं इससे जो कहते हैं देहादि से भिन्न जीवात्मा नहीं सो सर्वथा मिथ्या है ॥

प्रकृति का अनादित्व

प्यारे पाठक गण ! यदि ध्यान की दृष्टि से देखें तो आप को ज्ञान होगा कि प्रत्येक गुणी अपने गुणों का समुदाय हुआ करता है जिस गुणी का गुण परिणामी होता है वह गुणी भी परिणामी होता है जिसका गुण उत्पत्तिमान हो वह गुणी भी जन्य हुआ करता है और यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिसके मुल्क न हो वह मालिक नहीं कहला सकता और जिसका मुल्क पैदा हुआ (जन्य) वह अनादि मालिक (स्वामी) कहलाने का अधिकार नहीं रखता। क्योंकि जन्य वस्तु का नाश होना आवश्यकीय है इससे वह वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व और नाश होने के पश्चात स्वामी पना से रिक्त होगा इसी [illegible] जब तक व्याप्य न होगा व्यापक कहला नहीं सकता, [illegible] प्रकार ज्ञाता होने का गुण भी ज्ञान के साथ सम्बन्ध रख[illegible] [illegible] अनादि है जीवों की अल्प शक्ति और ज्ञान [illegible] [illegible]कृति की तृष्णा से तृप्त नहीं होते वरन भोग से [illegible] [illegible] जिस प्रकार अग्नि में घी डाला जाने से, मनुष्य को जिस ना फसावट [illegible] में होता है वह मिथ्यादि बंधन में पड़ता जाता है ईश्वर के संयोग से और उसके नियम के अनुसार चलने से सुख मिलते हैं ईश्वर के ज्ञान शक्ति स्वरूप होने से उसके योग से मनुष्य में ज्ञानशक्ति बढ़ जाती है जिससे अपनी निर्बलता को ज्ञान करने और उसके द्वारों पर अधिपत्य होने से सुख प्राप्त करता है मानो प्रकृति के अनादित्व बिना संसार में नियम नहीं चल सकता। बिना नियम के "अंधेर नगरी चौपट राजा टका सेर भाजी टका सेर खाजा" अतः प्रकृति अनादि है।

प्र०—जगत के कारण कितने होते हैं ?

उ० तीन। एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण; तीसरा साधारण निमित्त कारण।

पहला निमित्त कारण उसको कहते हैं जिसके बनाने से बने न बनाने से न बने। आप स्वयं बने नहीं दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे।

दूसरा उपादान कारण उसको कहते हैं जिसके बिना कुछ न बने वही अवस्थांतर रूप होके बने और बिगड़े भी, यानी प्रकृति परमाणु जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं वह जड़ होने से आप से आप न बने न बिगड़ सकती किंतु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है पर कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन [illegible] बिगड़ भी जाते हैं जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथ्वी में पड़ने [illegible] पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं और अग्नि आदि जड़ [illegible] ड़ भी जाते हैं परन्तु नियम पूर्वक इनका बनना व बि[illegible] और जीव के आधीन है।

तीसरा साधारण [illegible] । बनने में साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्त कारण [illegible] प्रकार के हैं एक सब सृष्टि को कारण से बनाने धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा है। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक विधि कार्यान्तर बनाने वाला साधारण निमित्त कारण जीव है। जैसे घड़े का बनाने वाला कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान कारण और दण्ड चक्र प्रकाश, हाथ, ज्ञान आदि निमित्त साधारण कारण हैं इन तीन कारणों के बिना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती और न बिगड़ सकती है।

कारणाभावात् कार्या भावः॥ वै० अ० ४ आ० १ सू० ३

कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है परन्तु यह नियम नहीं कि कार्य के अभाव से कारण का भी अभाव हो यदि सृष्टि का कारण परमाणु न हों तो सृष्टि का उत्पन्न होना सम्भव नहीं, यदि यह नियम न हो तो मनुष्य किस प्रकार वस्तु सिद्धि कर सके जैसे घड़े आदि में देखते हैं कि यदि वह मिट्टी से बने तो मिट्टी के, पीतल के बने तो पीतल के गुण अवश्य पाये जाते हैं।

कारण गुण पूर्वकः कार्य्य गुणो दृष्टः॥ वै. अ. २ आ. १ सू. २४

उपादान कारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप और जगत् कार्य्य रूप असत जड़ और आनन्द रहित, ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ, ब्रह्म अदृश्य और जगत दृश्य है, ब्रह्म अखंड और जगत् खण्डरू [illegible] ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि [illegible] जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि ज [illegible] भी जड़ हो जाय और जैसा परमेश्वर चेतन [illegible] कार्य्य भी चेतन होना चाहिये इससे सिद्धि [illegible]। परमेश्वर जगत का उपादान कारण नहीं निमित्त कारण है और जो स्थूल होता है वह प्रकृति परमाणु जगत् के उपादान कारण हैं वे सर्वथा निराकार नहीं किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।

यह वचन ही एक जगह का नहीं दो उपनिषदों के अलग २ वाक्य हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत्॥

छान्दो० ३ खं० १४ मं० १ और

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन् "मृत्योः सः मृत्युं गच्छति इह नानेव पश्यति । कठोपनि० २ वल्ली ४ मं०

जैसे शरीर के अंग जब तक शरीर में जहां के तहां रहते तब तक काम के होते हैं अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक और प्रकरण से अलग व किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थ कहे जाते हैं। इस का अर्थ इस तरह है हे जीव तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति स्थिति और जीवन होता है जिसके बनाने और धारण करने से यह सब जगत विद्यमान हुआ ब्रह्म से सहचरित है। उसको छोड़ दूसरे की उपासना नहीं करनी चाहिये। इस चेतन मात्र अखंडैकरस ब्रह्म रूप में नाना वस्तुओं का मेल [illegible] किन्तु ये सब पृथक २ स्वरूप से परमेश्वर के आधार में स्थित [illegible]

प्र०—जो परमेश्वर जी [illegible] और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सक[illegible] इसलि[illegible]र की प्रेरणा से ही जीव काम करता है।

उ०—जीव उत्पन्न कभी नहीं हुआ अनादि है जैसा ईश्वर और जगत का उपादन कारण प्रकृति है। जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुये हैं और वे सब जीव के आधीन हैं जो मन, कर्म, वचन से जीव पाप पुण्य करता है वह भोक्ता है ईश्वर नहीं। यह मनुष्य शरीर तो सब शरीरों से उत्तम प्रभु की स्वाभाविक दया व न्याय है कि जिस से जीव प्रयत्न कर अल्पज्ञता के दोष और आनन्द की कमी को पूरा कर सके। यन्त्र को प्रयोग में लाने वाला भोक्ता होता है बनाने वाला नहीं।

प्र०—जीव और ईश्वर का स्वभाव स्वरूप, गुण, कर्म, कैसा है दोनों चेतन स्वरूप हैं स्वभाव दोनों का पवित्र अविनाशी और धार्मिकता आदि हैं। परन्तु कर्म परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय सब को नियम में रखना और जीवों के पाप पुण्यों के फल देना आदि धर्म युक्त कर्म हैं और जीवों के सन्तानोत्पत्ति उनका पालन शिल्प विद्यादि अच्छे बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं और जीव के—

इच्छाद्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

न्याय अ० १ अ० १ सू० १० ॥

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तर विकाराः सुख दुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

[illegible]० अ० ३ आ० २ सू० ४ ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न [illegible] व, ज्ञान, प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष-मनन, गीत इन्द्रि[illegible] [illegible]ाना, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादि युक्त होना ये जीवा[illegible] [illegible]ुण परमात्मा से भिन्न हैं उन्हीं से आत्मा की प्रतीति [illegible]नी क्योंकि वह स्थूल नहीं। जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित होते हैं और जब शरीर को छोड़ चला जाता है तब यह गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं जैसे दीप सूर्यादि के होने से प्रकाशादि का होना, न होने से न होना वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है।

प्र०—जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र ?

उ०—अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है "स्वतन्त्रः कर्त्ता" यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र

है जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्ता है, भोक्ता है स्वतन्त्र न हो तो उसको पाप पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। जैसे सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा से अनेकों पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते। वैसे जो परमेश्वर के प्रेरणा से कर्म हों तो जीव को पाप या पुण्य न लगे।

प्र०—जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिछिन्न ?

उ०—परिछिन्न. जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना आना कभी नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है इसलिये जीव और परमेश्वर का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है।

प्र०—जिस जगह में एक वस्तु होती है उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती इस लिये जीव और ईश्वर का संयोग सम्बन्ध हो सकता व्याप्य व्यापक नहीं।

उ०—यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घट सकता है असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल, अग्नि सूक्ष्म होता है इस कारण से लोहे में अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में थे दोनों रहते हैं वैसे ही जीव परमेश्वर से स्थूल होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है वैसे ही सेव्य सेवक आधाराधेय, राजाप्रजा, पिता पुत्र आदि सम्बन्ध हैं।

प्र०—ईश्वर साकार है व निराकार ?

उ०—निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता। तो सर्वज्ञादि सर्वनियामक सृष्टि करता गुण ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु के गुण कर्म स्वभाव भी परिमित

रहते हैं। तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिये। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिये। जो कहो कि ईश्वर ने स्वेच्छा से अपना शरीर बना लिया तो भी वही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था। इस लिये परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता किन्तु निराकार होने से सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

प्र०—ईश्वर सर्वशक्तिमान है वा नहीं?

उ०—है, परन्तु जैसा तुम सर्व शक्तिमान शब्द का अर्थ मानते हो वैसा नहीं। किन्तु सर्व शक्तिमान शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथा योग्य व्यवस्था करने में किंचित भी किसी की सहायता नहीं लेता। आप कहें कि ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है। तो क्या परमेश्वर अपने को मार अनेक ईश्वर बना स्वयं अविद्वान चोरी व्यभिचारादि पाप कर्म और दुखी भी हो सकता है? यदि नहीं तो यह कहना सब कुछ कर सकता कभी नहीं घट सकता। इससे वही सिद्ध हुआ जो हमने कहा है।

प्र०—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है वा नहीं?

उ०—न्याय और दया का नाम मात्र ही भेद है क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है वही दया से दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो वही दया कहाती है पराये दुःखों का छुड़ाना। जितना बुरा काम है वैसा ही दण्ड देना न्याय है डाकू को कारागार में रखकर अपराध

करने से बचाना उस पर दया और अन्य सहस्रों मनुष्यों की रक्षा मनुष्यों पर दया है।

प्र०—परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये या नहीं ?

उ०—करनी चाहिये, इससे वह अपना नियम तो नहीं छोड़ता-पर स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षातकार होना उसके आनन्द गुण अपने में आना है। जैसे अग्नि के पास बैठने से उसके दाहक गुण आते हैं जैसे वह न्यायी वैसा आप बने पर आप न बने केवल भाड़ के समान गुण कीर्तन करे अपने चरित्र न सुधारे उसकी स्तुति करना व्यर्थ है पुरुषार्थी बनना अर्थात् अपने सामर्थ्य भर पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है सब की उपकारक प्रार्थना में प्रभु सहायक होते हैं हानि कारक में नहीं प्रभू के भरोसे आलसी बनाना महामूर्खता है वह सुख कभी न पावेगा। जैसे वर्तमान काल में भारतवासी।

प्र०—जब परमेश्वर में श्रोत्रनेत्रादि इन्द्रियां नहीं हैं तो वह इन्द्रियों के काम कैसे कर सकता ?

उ०—**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः। सवेत्ति विश्वंनचतस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥** श्वेता उप० अ० ३मं० १९

यह उपनिषद् का वचन है परमेश्वर के हाथ नहीं परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका ग्रहण रचना करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सब से अधिक वेगवान, चक्षु का गोलक नहीं

परन्तु सबको यथावत देखता श्रोत्र नहीं तथापि सबकी बातें सुनता, अन्तःकरण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है पर उसको अवधि सहित जानने वाला कोई नहीं, उसी को सनातन सब से श्रेष्ठ सब में पूर्ण होने से पुरुष कहते हैं। वह इन्द्रियों और अन्तः करण से होने वाले काम अपने सामर्थ्य से करता है।

प्र०—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं?

उ०—**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समःश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** ॥ श्वेता० उप० अ० ६ मं० ८ ॥

यह उपनिषद् का वचन है परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य्य और उसको करण अर्थात साधक तम दूसरा अपेक्षित नहीं। न कोई उसके तुल्य न अधिक है। सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त बल और अनन्त क्रिया है वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है जो परमेश्वर निश्क्रिय होता तो जगत की उत्पत्ति स्थिति प्रलय न कर सकता इस लिये वह विभु तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।

प्र०—परमात्मा अपना अन्त जानता वा नहीं?

उ०—परमेश्वर पूर्ण ज्ञानी है क्योंकि ज्ञान उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों का त्यों जाना जाय परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानता और सब काम ज्ञान युक्त करता है।

क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ॥

योग समाधिपादे सू० २४

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट फल और मिश्रफल दायक कर्मों की वासनाओं से रहित है वह सब जीवों में

विशेष ईश्वर कहाता है।

प्र०—"ईश्वरासिद्धेः ॥" सां० अ० १ सू० १२

क्या यह ठीक है ?

उ०—यहां ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं और न ईश्वर जगत् का उपादान कारण है और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम पुरुष शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम पुरुष है क्योंकि उसी प्रकरण में कहा-प्रधान शक्ति योगाच्चेत्सङ्गापत्तिः ॥१॥ सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ॥२॥ श्रुतिरपि प्रधान कार्य्यत्वस्य ॥३॥ सांख्य अ० ५ सू० ८-९-१२ ॥

यदि पुरुष को प्रधान शक्ति का योग हो तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाय अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाय। इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है ॥१॥ जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिये, सो नहीं। इससे वही बात ॥ २ ॥ क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहती है इसलिये जो कपिलाचार्य जी को अनीश्वरवादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है कपिलाचार्य जी नहीं। तथा "अति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा" जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है उसको मीमांसा वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।

प्र०—ईश्वर अवतार लेता है या नहीं ?

उ०—नहीं, क्योंकि "अजएकपात्" यजु० अ० ३४ मं० ५३॥

"सपर्य्यगाच्छुक्रमकायम्" यजु० अ० ४० मं० ८

इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गी० ४

श्री कृष्ण जी को अवतार कहते हैं, यह बात वेद विरुद्ध होने से प्रमाण नहीं, पर ऐसा तो हो सकता कि धर्मात्मा मुक्त पुरुष जन्म लेकर धर्म की रक्षा करें "परोपकाराय सतां विभूतयः" पर वह ईश्वर नहीं हो सकते ।

प्र०—जो ऐसा है तो चौबीस अवतारों को क्यों मानते हैं ।

उ०—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने और अपने आप अविद्वान होने से, भ्रम जाल में फँस ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं ।

प्र० –ईश्वर अवतार न ले तो कंसरावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उ०—प्रथम जो जन्मा है वह अवश्य मृत्यु होगा जो ईश्वर शरीर धारण किये बिना जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है उसके सामने कंस रावणादि वह एक कौड़ी के समान भी नहीं, सर्व व्यापक होने से उनके शरीरों में भी व्यापक है फिर नष्ट करने में क्या जो कोई कहे भक्त जनों के लिये जन्म लेता तो भी ठीक नहीं क्योंकि जो भक्त जन ईश्वर की आज्ञानुसार चलते हैं उनके उद्धार करने का सामर्थ्य ईश्वर में है । क्या सृष्टि की रचना विचित्रता से कंस रावणादि का वध गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं । युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता । जैसे अनन्त आकाश को कोई कहे गर्भ में आया ऐसा कहना कभी

सच नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश अनन्त और सब में व्यापक है वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कहेगा व मान सकेगा। इसलिये राम, कृष्ण, शंकर, ईसामसीह, मोहम्मद साहिब आदि ईश्वर के अवतार नहीं क्योंकि रागद्वेष, क्षुधा तृषा, भय शोक, दुःख, सुख, जन्ममरण आदि गुण युक्त होने से मनुष्य थे।

प्र०—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं।

उ०—नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय और मनुष्य महापापी हो जायें। क्योंकि क्षमा की बात सुन कर ही उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे मनुष्य अधिक बड़े २ पाप करें और जो पाप नहीं करते वह भी करने लग जावें इसलिये सब कर्मों का यथावत फल देना ही ईश्वर का काम है क्षमा करना नहीं।

प्र०—परमेश्वर त्रिकालदर्शी है इससे भविष्यत की बातें जानता है। जैसा वह निश्चय करेगा वैसा जीव करेगा इससे जीव स्वतंत्र व दण्डनीय भी नहीं। क्या यह कथन ठीक है ?

उ०—ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है क्योंकि जो होकर न रहै वह भूतकाल, और न होके होवे वह भविष्यत काल कहलाता है क्या ईश्वर का कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एक रस अखंडित वर्तमान रहता है भूत भविष्यत् जीवों के लिये हैं हां जीवों के कर्म की अपेक्षा ईश्वर में त्रिकालज्ञता है जैसा स्वतंत्रता से जीव करता है वैसा सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। उसमें ज्ञान अनादि है।

प्र०—जगत के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है जो न बनाता तो अच्छा रहता और जीवों को भी दुःख सुख न प्राप्त होता ?

उ०—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं पुरुषार्थी की नहीं। जीवों को प्रलयमें क्या दुःख वा सुख जो सृष्टि की तुलना की जावे तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्र आत्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को प्राप्त होते हैं। प्रलयमें निकम्में जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं। जो तुमसे कोई पूंछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है तो देखने के सिवा कुछ न कहोगे। तो जो ईश्वर में जगत की रचना करने का विज्ञान है बल और क्रिया उसका क्या प्रयोजन है बिना जगत् की उत्पत्ति करने के कुछ भी न कह सकोगे और परमात्मा के न्याय धारण, दया आदि गुण तभी सार्थक हो सकते हैं। जब जगत् को बनावे। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थित, प्रलय सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।

प्र०—बीज पहले है या वृक्ष ?

उ०—बीज, क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थ वाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से कार्य के प्रथम ही होता है।

प्र०—क्या कारण के विना परमेश्वर कार्य नहीं कर सकता ?

उ०—नहीं, क्योंकि जिसका अभाव अर्थात् जो वर्तमान नहीं है उसका होना सर्वथा असम्भव है जैसे कोई गपोड़ा हांक दे कि मैंने वंध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा, बद्दल के बिना वर्षा हुई **मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः** ऐसी असम्भव बातें पागल लोगों की हैं।

प्र०—जो कारण के बिना कार्य नहीं होता तो कारण का कारण कौन है ?

उ०—जो केवल कारण रूप ही हैं वे कार्य किसी के नहीं होते और जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है वह दूसरा कहाता है। जैसे पृथिवी, घर आदि का कारण, और जल का कार्य्य, होता है परन्तु जो आदि कारण प्रकृति है वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ सांख्य अ० १-सू० ६७

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इसमे अकारण सब कार्यों का अभाव होता है क्योंकि किसी कार्य के आरम्भ होने के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं जैसे कपड़ा बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्तमान होने से वस्त्र बनता है वैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर प्रकृति, काल, आकाश, जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इसमें एक भी न हो तो जगत भी न हो।

प्र०—सृष्टि विषय में वेदादि शास्त्रों का अविरोध या विरोध है ?

उ०—अविरोध, छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। "मीमांसा" में ऐसा कोई कार्यजगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाय "वैशेषिक" में समय न लगे बिना बने ही नहीं "न्याय" में उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता "योग" में विद्या, ज्ञान, विचार न किया जावे तो नहीं बन सकता "सांख्य" में तत्वों के मेल न होने से नहीं बन सकता "वेदान्त" में बनाने वाला न बनावे तो कोई पदार्थ न हो सके इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक २ की एक २ शास्त्र में है इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिल के एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसा ही सृष्टि

कार्य रूप की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है। यह तैत्तिरीयोपनि० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु १

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायूः। वायोरग्निः । अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतः पुरुषः सवा एष पुरुषोऽन्नरस मयः ॥

यह तैत्तिरीय उपनिषद का वचन है उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारण रूप द्रव्य जो सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति परमाणु कहां ठहर सकें. आकाश के पश्चात् वायू, वायू के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से औषधि औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य्य, वीर्य्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है। अतः कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे। किन्तु ईश्वर नाम ब्रह्म का है और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत स्वरूप जीव का नाम जीव है जो तुम कहो जीव चिदाभास का नाम है तो वह क्षण भंगुर होने से नष्ट हो जायगा तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा? इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ न है और न होगा। जिससे उत्पन्न होता वह कारण और जो उत्पन्न होता वह कार्य और जो कारण कार्य उपाधि भेद से ईश्वर जीव मानते ऐसा नहीं। जो कारण को कार्य्य रूप बनाने हारा है वह कर्ता कहाता है।

प्र०—**तो सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**

छान्दोग्य।

अद्वैत सिद्धि कैसी होगी ?

उ०—हमारे मत में ब्रह्म से प्रथक कोई सजातीय विजातीय और सुगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है।

प्र०—जब जीव दूसरा है तो अद्वैत सिद्धि कैसे हो सकती है।

उ०—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो ? विशेष विशेषण विद्या का ज्ञान करो कि उसका क्या फल है समझो कि अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है अर्थात् अनेक जीव व तत्व हैं उनसे ब्रह्म को प्रथक् करता है और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि ब्रह्म के होने की प्रवृत्ति करता है जैसे "अस्मिन्नगरेऽद्वितीयोधनाढ्यो-देवदत्तः" ।"अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरोविक्रमसिंहः' किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है । इस से क्या सिद्ध हुआ इस नगर में देवदत्त के सदृश दूसरा धनाढ्य और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है। न्यून तो हैं वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव व प्रकृति नहीं हैं पर न्यून तो हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृति स्तत्व अनेक हैं। ब्रह्म के तुल्य नहीं, इससे न अद्वैत सिद्धि और न द्वैत सिद्धि की हानि होती है।

प्र०—ब्रह्म के सत्-चित्-आनन्द और जीव के अस्ति भांति प्रिय रूप से एकता होती है फिर क्यों खण्डन करते हो।

उ—किंचत् साधर्म्य मिलने से एकता नहीं हो सकती। जैसे पृथिवी जड़ दृश्य है वैसे जल अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं इतने से एकता नहीं होती। इनमें वैधर्म्य भेद कारक अर्थात् विरुद्ध धर्म जैसे गन्ध, रुक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी का और रस द्रवत्व कोमलत्वादि धर्म जल के रूप दाह

कत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं । जसे मनुष्य और कीड़ी के आकृति में भिन्नता होने से एकता नहीं होती, वैसे ही परमेश्वर के अनन्त, ज्ञान, बल, आनन्द होना निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से और जीव के अल्प ज्ञान, अल्प बल, अल्प स्वरूप सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं इनका स्वरूप भी परमेश्वर अति सूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से भिन्न है ।

अथोदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति द्वितीयाद्वै भयं भवति ।

यह ब्रह्मदारण्यक का वचन है । जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा सा भी भेद करता है उसको भय प्राप्त होता है क्योंकि दूसरे से ही भय होता है ।

उ०—इसका अर्थ यह नहीं है किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध वा किसी एक देश काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने वा उसकी आज्ञा गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध होके अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे उसको भय प्राप्त होता है क्योंकि द्वितीय बुद्धि अर्थात् ईश्वर से मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं तथा किसी मनुष्य से कहे कि तुमको मैं कुछ नहीं समझता तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता वा किसी की हानि करता वा दुःख देता जाय तो उसको उनसे भय होता है और सब प्रकार का अविरोध होवे तो वे एक कहाते हैं जैसे कहते हैं देवदत्त यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं । विरोध न रहने से सुख विरोध से दुःख प्राप्त होता है ।

प्र०—ब्रह्म जीव की सदा एकता अनेकता रहती या कभी दोनों मिल के एक भी होते हैं। जैसे पृथिव्यादि द्रव आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते क्योंकि आकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता और स्वरूप से भिन्न रहने से प्रथकता है वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते जैसे घर के बनाने की सामग्री तीनों काल में आकाश से भिन्न नहीं पर स्वरूप से भिन्न होने से कभी एक नहीं, इसी प्रकार जीव तथा सर्व पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न नहीं और स्वरूप भिन्न होने से एक कभी नहीं होते।

प्र०—परमेश्वर सगुण है वा निर्गुण ?

उ०—दोनों प्रकार है।

प्र०—एक घर में दो तलवार कभी रह सकते हैं एक पदार्थ में सगुणता निर्गुणता कैसे रह सकती है।

उ०—जैसे जड़ के रूपादि गुण चेतन में नहीं हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं जो गुणों के सहित है वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है। अपने २ स्वाभाविक गुणों के सहित और दूसरे के विरोधी गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें केवल सगुणता निर्गुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता निर्गुणता सदा रहती है वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञानादि इत्यादि गुणों के सहित होने से सगुण और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से प्रथक होने से निर्गुण कहाता है। वही सब-

ज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी सगुण और द्वेषादि गुणों को प्रथक मान अति सूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना निर्गुणोपासना कहाती है ।

प्र०—संसार में निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहते हैं अर्थात् परमेश्वर जब जन्म नहीं लेता तब निर्गुण और जब औतार लेता है तब सगुण कहाता है ।

उ०—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों को हैं जिनको विद्या नहीं होती वे पशु समान वर्ड़ाया करते हैं व जैसे सन्निपात ज्वर युक्त मनुष्य अण्ड बण्ड बकता है वैसे अविद्वानों के कहे व लेख को व्यर्थ समझना चाहिये ।

प्र०—परमेश्वर रागी है वा विरक्त ?

उ०—दोनों में नहीं । क्योंकि राग अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है, सो परमेश्वर से कोई पदार्थ प्रथक वा उत्तम नहीं इसलिये उसमें राग का होना सम्भव नहीं । और जो प्राप्त को छोड़ देवे उसको विरक्त कहते हैं ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता इसलिये विरक्त भी नहीं ।

प्र०—ईश्वर में इच्छा है वा नहीं ।

उ०—वैसी इच्छा नहीं । क्योंकि इच्छा अप्राप्ति उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख विशेष होवे उसकी इच्छा होती है, सो उससे न कोई अप्राप्त पदार्थ न कोई उससे उत्तम, और उसे पूर्ण सुख युक्त होने से सुख की अभिलाषा भी नहीं है, इसलिये ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं किन्तु ईक्षण अर्थात् सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है वह ईक्षण है ।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

योग. समाधिपादे सू० २६ ॥

जैसे वर्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुये अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ाने वाला है क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञान रहित हो जाते हैं वैसे परमेश्वर नहीं होता है। इसलिये उसका ज्ञान वेद नित्य है। अपनी सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ उसने यथावत सब विद्याओंका प्रकाश वेद द्वारा किया।

अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयंब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥ मनु० १।२।३

जिस परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये।

प्र० उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं इससे ईश्वर पक्षपाती हो जाता है।

उ०—वही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे अन्य नहीं थे इस लिये उन्हीं में प्रकाश किया।

प्र०—वेद संस्कृत भाषा में प्रकाशित हुये और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस भाषा को नहीं जानते थे। फिर वेदों का अर्थ कैसे जाना ?

उ०—परमेश्वर ने जनाया और धर्मात्मा योगी महर्षि लोग जब २ जिस २ के अर्थ के जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थित हुये तब २ परमात्मा ने अभीष्ट मंत्रों के अर्थ जनाये।

प्र०—किसी देश भाषा में न करके संस्कृत में क्यों किया।

उ०—किसी देश भाषा में प्रकाश करता तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता क्योंकि उसको सुगम अन्यों को कठिन होता।

प्र०—वेद ईश्वर कृत हैं अन्य कृत नहीं इस में क्या प्रमाण है?

उ०—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्व विद्याबित, शुद्ध गुण कर्म स्वभाव, न्यायकारी, दयालुगुण वाला है वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वर कृत अन्य नहीं जिसमें सृष्टि क्रम प्रत्यक्षादि प्रमाण आप्तों के और पवित्रात्मा के व्योहार से विरुद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त। जैसा ईश्वर का ज्ञान निभ्रम, वैसा जिस पुस्तक में भ्रांति रहित ज्ञान का प्रतिपादन हो, वह ईश्वरोक्त, जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टि क्रम रखा है वैसा ही ईश्वर, सृष्टि कार्य, कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है, और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो इस प्रकार के वेद हैं। अन्य बाईबल कुरान आदि पुस्तकें नहीं इसकी स्पष्ट व्याख्या बाईबल और कुरान के प्रकरण सत्यार्थ प्रकाश के तेहरवें और चौदहवें समुल्लास में की गई है वहां देखो।

प्र०—वेद को ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना सकते।

उ०—कभी नहीं बना सकते, क्योंकि बिना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है। जैसे जंगली लोग सृष्टि को देख कर भी विद्वान नहीं होते।

प्र०—क्या यह पुस्तक भी नित्य है?

उ०—नहीं क्योंकि पुस्तक तो पत्र और स्याही का बना है

वह नित्तत्य कैसे हो सकता है ? किन्तु शब्द अर्थ संबन्ध नित्य है वेद परमेश्वरोक्त हैं इसी के अनुसार चलना चाहिये जो कोई पूछे तुम्हारा क्या मत है तो कहे हमारा मत वेद है अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उस को मानते हैं।

नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभिः ॥

भगवद्गीता (अ० २।१६)

कभी असत का भाव वर्तमान और सत का अभाव अवर्तमान नहीं होता इन दोनों का निर्णय तत्वदर्शी लोगों ने जाना है अन्य पक्षपाती मलीनात्मा अविद्वान लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि जोमनुष्य, विद्वान, सत्संगी न होकर पूरा विचार नहीं करता वह सदा भ्रम जाल में पड़ा रहता है। धन्य ! वे पुरुष हैं कि सब विद्याओं के सिद्धांतों को जानते हैं और जानने के लिये परिश्रम करते हैं जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता वह कुछ भी नहीं जानता। जब प्रलय के बाद सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है उसकी प्रथम अवस्था प्रकृति रूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महतत्त्व और उससे कुछ स्थूल होता उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न पांच सूक्ष्म भूत और श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियां वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियां हैं और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्च तन्मात्राओं से अनेक स्थूल वस्थाओं को प्राप्त होते हुये क्रम से पांच स्थूल भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ओषधियां वृक्ष आदि उनसे अन्न और अन्न

से वीर्य, वीर्य से शरीर होता है परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती। क्यों कि जब स्त्री पुरुषों के शरीर परमात्मा बना कर उनमें जीवों का संयोग कर देता है तदन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है। देखो! शरीर में किस प्रकार की ज्ञान पूर्वक सृष्टि रची है जिसको विद्वान लोग देख कर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बंधन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत, फेफड़ा, पंखा कला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूल रचन, लोम नखादि का स्थापन, आंख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत-ग्रथन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिये स्थान विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभाग करण कला कौशल स्थापनादि अद्भुत सृष्टि को बिना परमेश्वर के कौन कर सकता है इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के रत्न, धातु से जड़ित भूमि विविध प्रकार—वट वृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म, रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र मध्य रूपों से युक्त पत्र पुष्प, फल, अन्न, कन्द मूलनिर्माण मिष्ट क्षार कटुक, कषाय, तिक्त अम्लादि विविधि रस सुगन्धादि युक्त मूलादि रचन अनेका अनेक करोड़ों भूगोल सूर्य चन्द्रादि लोक निर्माण धारण भ्रामण नियमों में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता जब कोई किसी पदार्थ को देखता है तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। एक जैसा वह पदार्थ है और दूसरा उसमें रचना देख कर बनाने वाले का ज्ञान होता है। जैसे किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया, देखा तो विदित हुआ कि वह सुवर्ण का है और किसी बुद्धिमान कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार सृष्टि में विविध रचना बनाने वाले परमेश्वर को सिद्ध करती हैं।

प्र०—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई या पृथिवी आदि की ?

उ०—पृथिवी आदि की क्यों कि पृथिव्यादि के बिना मनुष्य की स्थित और पालन नहीं हो सकता।

प्र०—सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न हुये थे वा क्या ?

उ०—अनेक क्यों कि जिन जीवों के जन्म ईश्वरीय सृष्टि में उत्पन्न होने के थे उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है क्यों कि **"मनुष्या ऋषयश्चये। ततो मनुष्या अजायन्त"** यह यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण में लिखा है। इससे निश्चय है कि सहस्रों की संख्या में मनुष्य उत्पन्न हुये।

प्र०—आदि सृष्टि में मनुष्य आदि की सृष्टि बाल्य, युवा, या वृद्धावस्था में हुई थी अथवा तीनों में।

उ०—युवा अवस्था में क्यों कि जो बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन के लिये दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती, इससे युवावस्था मे।

प्र०—कभी सृष्टि का आरम्भ है वा नहीं।

उ०—नहीं, जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है इसी प्रकार सृष्टि का चक्र अनादि काल से चला आता इसका आदि व अंत नहीं किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ व अन्त दीखने में आता उसी प्रकार सृष्टि प्रलय का आदि अंत होता रहता है जैसे परमात्मा, जीव, जगत का कारण तीन स्वरूप से अनादि हैं वैसे जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव का आरम्भ व अन्त नहीं इसी प्रकार उसके कर्तव्य कर्म का भी आरम्भ व अन्त नहीं।

प्र०—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म किसी को सिंहादि क्रूर किन्हीं को हरिणगाय आदि पशु किन्हीं को कृमि कीट पतङ्गादि जन्म दिये हैं इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उ०—पक्षपात नहीं आता क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुये कर्मानुसार व्याख्या थी जो कर्म के बिना जन्म देता तो पक्षपात आता।

प्र०—मनुष्यों को आदि सृष्टि किस स्थल पर हुई।

उ०—त्रिविष्टप अर्थात् जिस को तिब्बत कहते हैं।

प्र०—आदि सृष्टि में एक जाति थी वा अनेक?

उ०—एक मनुष्य जाति थी पश्चात् **"विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः"** यजु० १-५१-८

प्र०—यह यजुर्वेद का वचन है। श्रेष्ठों का नाम है आर्य, विद्वान्, देव, और दुष्टों का दस्यु अर्थात डाकू, मूर्ख नाम होने से आर्य और दस्यु दो नाम हुये अर्थात् आर्य्य और अनार्य्य अनाड़ी और इक्ष्वाकु से लेकर कौरव पांडव तक सर्व भूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का प्रचार थोड़ा २ आर्य्यावर्त से भिन्न देशों में भी रहता था। इसमें प्रमाण है कि ब्रह्मा पुत्र विराट् का मनु मनु के मरीचादि हुए और इनके स्वायम्भवादि सात राजा और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्य्यावर्त के प्रथम राजा हुये उन्होंने ही इसे बसाया है। अब अभाग्योदय से आर्य्यों के आलस्य प्रमाद परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का स्वाधीन राज्य इस समय नहीं है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान

कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुख-दायक नहीं है। इसलिये जो कुछ वेदादि शास्त्रों में व्यवस्था व इतिहास लिखे हैं उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।

प्र०—जगत की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ।

उ०—एक अरब छयानवे क्रोड़ कई लाख कईहजार वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश को हुये, इसका स्पष्ट व्याख्यान ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेदोत्पति विषय को देखो। सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा न जाय उसका नाम परमाणु साठ परमाणुओं के मिले हुये का नाम अणु दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल पांच द्व्यणुक की पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।

प्र०—इन भूगोलादि का धारण कौन करता है।

उ०—"शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्" ऐसा कहा है कि शेष का आधार पृथिवी है इसी को सर्प मिथ्या कल्पना किन्हीं ने करली परन्तु जैसे परमेश्वर उत्पत्ति प्रलय से बाकी है अर्थात् पृथक रहता है इसी से उसको "शेष कहते हैं उसी के आधार पृथिवी है जगत का कर्ता धारण करने वाला वही है।

प्र०—पृथिव्यादि लोक घूमते व स्थिर ?

उ०—घूमते हैं।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरंपुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः। यजु० अ० ३ मं० ६॥

अर्थात् यह भूगोल जल के साथ सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है इस लिये भूमि घूमा करती है जितना भाग सूर्य के सामने

आता है उतने में दिन और जितना आड़ में होता जाता उतने में रात। अर्थात् जब आर्यावर्त्त में सूर्योदय होता उस समय पाताल यानी अमेरिका में अस्त होता है और जब आर्यावर्त्त में अस्त होता है तब अमेरिका में उदय होता है। जो कहते हैं कि सूर्य घूमता पृथिवी नहीं वे अज्ञ हैं। क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्रवर्ष के रात व दिन होते क्योंकि सूर्य पृथिवी से लाख गुना बड़ा और करोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथा योग दिन रात होता सूर्य से नहीं। और जो सूर्य को स्थिर कहते हैं वे भी ज्योतिर्विद्यावित् नहीं जो सूर्य घूमता न होता तो एक राशि स्थान से दूसरे स्थान को प्राप्त न होता। और गुरु पदार्थ आकाश में बिना घूमे नियत स्थान पर रह नहीं सकता। इस लिये एक भूमि के पास एक चन्द्र और अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

प्र०—सूर्य चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं और उनमें मनुष्यादि सृष्टि हैं वा नहीं?

उ०—वे सब भूगोल लोक हैं और उनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है क्योंकि—शत० कां० २४—प्र० ६, व ७ कं० ४।

एतेषुहीदꣳसर्वं वसुहितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदꣳसर्वं वासयंते तस्माद्वसवइव।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका वसु नाम इस लिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा बसती है और ये ही सब को वसाते हैं। जिस लिये वास के निवास करने के घर हैं इस लिये इनका नाम वसु है। जब पृथिवी के समान सूर्य चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं तो उनमें इसी प्रकार प्रजा के

होने में क्या संदेह है और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है वैसे परमेश्वर का कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो क्या सफल कभी हो सकता है ? इस लिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि हैं।

प्र०—जैसे इस देश में मनुष्यादि की आकृति अवयव हैं वैसे अन्य लोकों में भी होगी या विपरीत ?

उ०—कुछ २ आकृति में भेद होने का सम्भव है जैसे इस देश में चीन, हबस और आर्यावर्त ? यूरोप में अवयव रंग रूप और आकृति का भी थोड़ा भेद होता है इसी प्रकार लोक लोकान्तरों में भी भेद होते हैं परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है जिस २ शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं उसी २ प्रदेश में लोकांतर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं क्योंकि

सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः ॥ ऋ० मं० १० सू० १९०

का वचन है परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुख विशेष पदार्थ पूर्व कल्प में रचे थे वैसे ही इस सृष्टि में रचे हैं तथा सब लोक लोकांतरों में भी बनाये हैं। भेद किंचित्मात्र नहीं होता।

प्र०—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है उन्हीं का उन लोकों में प्रकाश है वा नहीं ?

उ०—उन्हीं का। जैसे एक राजा की राज्य व्यवस्था नीति सब देशों में समान होती हैं उसी प्रकार परमेश्वर की वेदोक्त नीति सब राज्य में एक सी है।

प्र०—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं तो ईश्वर का अधिकार भी इन पर न होना चाहिये क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं ?

उ०—जैसे राजा व प्रजा समकाल में होते हैं पर राजा के आधीन प्रजा होती है वैसे ही ये सब परमेश्वर के आधीन हैं जब परमेश्वर सब सृष्टि को बनाने और सब जीवों के कर्मफलों के देने, रक्षक और अनन्त सामर्थ्य वाला है तो अल्प सामर्थ्य और जड़ पदार्थ उसके आधीन क्यों न होंगे इस लिये जीव कर्म करने में स्वतन्त्र परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं।

अब विद्या अविद्या बन्ध और मोक्ष विषय में लिखा जायगा।

विद्यांचाऽविद्यां च यस्तेद्वेदोभयंऽसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ यजु० अ० ४० मं० १४

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से अज्ञान भ्रम मृत्यु को तर के विद्या यथार्थ ज्ञान से इंद्रियों के विकारों से तर कर मोक्ष को प्राप्त होता है। अविद्या का लक्षण यह है।

अनित्याशुचि दुःखानात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या ॥ पात० दो० साधनपाद सू० ५

यह योग सूत्र का वचन है जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य्य जगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योग बल से यही देवों का शरीर सदा रहता है वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथमांग है। अशुचि अर्थात् मूत्रमय स्त्री आदि के और मिथ्या भाषण चोरी आदि अपवित्र में

पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि आदि तीसरा अनात्मा में आत्म बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है, यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र मे अपवित्र और पवित्र में पवित्र दुःख में दुःख और सुख में सुख अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात्

"वेत्ति यथावत्तत्त्व पदार्थ स्वरूपं यया सा विद्या ययातत्त्व स्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति ययाऽसाऽविद्या"

जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्व स्वरूप न जान पड़े अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है। अर्थात् कर्म उपासना अविद्या इस लिये है कि यह वाह्य और अन्तर क्रिया विशेष है ज्ञान विशेष नहीं। इसी से मंत्र में कहा है कि बिना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना से मृत्यु दुःख से पार कोई नहीं हो सकता। अर्थात् पवित्र कर्म पवित्रोपासना और पवित्रज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बंध होता है। इसलिये धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

प्र०—मुक्ति किसको प्राप्ति नहीं होती?

उ०—जो बद्ध है।

प्र०—बद्ध कौन है?

उ०—जो अधर्म अज्ञान में फंसा हुआ जीव है।

प्र०—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है वा निमित्त से।

उ०—निमित्त से क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बंध मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती।

प्र०—ननिरोधो न चोत्पत्तिर्न वद्धोन च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ प्र० २ की० ३२ गौड-पादीय कारिका

यह श्लोक माण्डूकोपनिषद पर है। जीव ब्रह्म होने से वस्तुत: जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आया न जन्म लेता न बंध है और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करने हारा है न छूटने की इच्छा करता और न कभी इसकी मुक्ति है क्योंकि जब बंध नहीं हुआ तो मुक्ति क्या।

उ०—यह नवीन वेदान्तियों का कहना सत्य नहीं। क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने के कारण आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने रूप जन्म लेता, पाप रूप कर्मों के फल भोग रूप बंधन में फंसता, उसके छुड़ाने का साधन करता दुख से छूटने की इच्छा करता और दुःखों से छूट कर परमानंद परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है।

प्र०—ये सब धर्म देह और अंत:करण के हैं जीव के नहीं। क्योंकि जीव तो पाप पुण्यरहित साक्षी मात्र है। शीतोष्ण शरीरादि के धर्म हैं आत्मा निर्लेप है।

उ०—देह और अंत:करण जड़ हैं उनको शीतोष्ण प्राप्ति और भोग नहीं है। जो चेतन जीव उसमें रहता है उसी को शीत उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं न उनको

भूख न पिपासा, किन्तु प्राण वाले जीव को क्षुद्रा तृषा लगती है। वैसे मन भी जड़ है न उसको हर्ष न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष शोक दुःख सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि इन्द्रियों से अच्छे बुरे शब्दादि विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी दुःखी होता है वैसे अन्तःकरण अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहङ्कार से संकल्प विकल्प और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है जैसे तलवार से मारने वाला दण्ड-नीय होता है तलवार नहीं होती, वैसे जीव कर्ता भोगता है कर्मों का साक्षी नहीं साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। कर्म करने वाला जीव भोगता होता है' ईश्वर साक्षी नहीं।

प्र०—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है जैसे दर्पण के टूटने फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तब तक है जब तक अंतःकरणोपाधि है जब अन्तः-करण नष्ट हो गया तब जीव मुक्त है।

उ०—यह बालकपन की बात है क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं और पृथक् भी हैं जो पृथक् न हों तो भी नहीं हो सकता। ब्रह्म निरा-कार सर्व व्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

प्र०—जैसे घटाकाश मेघाकाश और महदाकाश के भेद, व्यवहार में होते हैं वैसे ही ब्रह्म के ब्रह्मांड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर जीव नाम होता है जब घटादि नष्ट हो जाते तब महाकाश ही कहाता है।

उ०—यह भी बात अविद्वानों की है क्योंकि आकाश कभी छिन्न भिन्न नहीं होता व्यवहार में भी "घड़ालाओ" इत्यादि व्यव-हार होते हैं यह कोई नहीं कहता घड़ा का आकाश लाओ। इससे यह

ठीक न हो जो सर्व व्यापक है वह परिच्छिन्न अज्ञान और बंध में कभी नहीं गिरता, क्योंकि अज्ञान परिछिन्न एक देशी अल्प अल्पज्ञ जीव होता है सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म नहीं। अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की स्थापना करना अध्यारोप कहाता है।

प्र०—अध्यारोप का करने वाला कौन ?

उ०—जीव अंतः करणावच्छिन्न चेतन।

प्र०—अंतः करणावछिन्न चेतन दूसरा है या वही ब्रह्म।

उ०—वही ब्रह्म।

प्र०—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत की झूठी कल्पना कर ली।

उ०—हो ब्रह्म की इससे क्या हानि।

प्र०—जो मिथ्या कल्पना करता है क्या वह झूठा नहीं होता, हो, हमको इष्टा पत्ति है ! वाहरे झूठे वेदांतियो तुमने सत्यस्वरूप सत्य काम सत्य संकल्प परमात्मा को मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है किस उपनिषद् सूत्र व वेद में लिखा कि परमात्मा मिथ्याकारी है।

प्र०—मुक्ति किसको कहते हैं ?

उ०—"मुञ्चंति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः"

जिससे छूट जाना हो उसका नाम मुक्ति है।

प्र०—किससे छूट जाना ?

उ०—दुःख से।

प्र०—छूट कर किसको प्राप्त होते हैं और कहां रहते हैं।

उ०—सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।

प्र०—मुक्ति और बंध किन २ कारणों से होता है।

उ०—परमेश्वर की आज्ञा पालने, वेदोक्त कर्म करने अधर्म, अविद्या, कुसंङ्ग, कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने और सत्यभाषण परोपकार विद्या पक्षपातरहित न्याय धर्म की वृद्धि करने पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना, अर्थात योगाभ्यास करना विद्या पढ़ने पढ़ाने धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने सबसे उत्तम साधनों को करने पक्षपात रहित न्याय धर्मानुसार कर्म करने इत्यादि साधनों से मुक्ति इनसे विपरीत से बंध्य।

प्र०—मुक्ति में जीव का लय होता है वा विद्यमान रहता है।

उ० - विद्यमान रहता है ब्रह्म में।

प्र०—ब्रह्म कहां है और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता कि स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है।

उ०—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं विज्ञान आनंद पूर्वक स्वतंत्र विचरता है।

प्र०—मुक्त जीव का स्थूल शरीर होता वा नहीं।

उ०—नहीं रहता।

प्र०—फिर वह सुख आनंद भोग कैसे करता है।

उ०—उसके सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं भौतिक सङ्ग नहीं।

जैसे—शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनोभवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति, चेतयंश्चित्तम्भवत्यहङ् कुर्वाणोऽहङ्कारो भवति। शतपथ कां १४

जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु-स्वाद के लिये रसना, गंध के लिये घ्राण, संकल्प विकल्प करते समय मन, निश्चय के लिये बुद्धि स्मरण करने के लिये चित्त, अहंकार के अर्थ अहंकार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है संकल्पमात्र शरीर से इन्द्रियों के द्वारा अपनी शक्ति से सब आनंद भोग लेता है।

प्र०—उसकी शक्ति के प्रकार की और कितनी है? मुख्य एक प्रकार की है परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गंध ग्रहण तथा ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है इससे मुक्ति में भी आनन्द लाभ करता है जो लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं वे महामूढ़ हैं मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूट कर आनंद स्वरूप सर्वव्यापक अनंत परमेश्वर में जीव का आनंद में रहना।

द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः। वेदान्तद ४-४-१२

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है। अपवित्रता, पापाचरण, दुःख अज्ञानादि का अभाव मानते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठंते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्चन विचेष्टते तामाहुः परमांगतिम्। कठ २–६–१०

यह कठ उपनिषद का वचन है। जब शुद्ध मन युक्त ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है उसको परमगति अर्थात मोक्ष कहते हैं।

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युर्विशोकोऽवि-जिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः सविजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामा-न्यस्तमात्मानमनुविद्यविजानातीति ॥ छा० ८।७।१॥

मघवन्मर्त्यंवाइदं शरीरमात्तं मृत्युनातदस्याऽमृतस्या शरीरस्यात्मनोधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यांनवै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरवाव संतं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥ छन्दो प्र० ८।१२ मं० ॥

जो परमात्मा अपहततपापमा सर्व पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित सत्य काम और सत्य संकल्प है उसकी खोज और उसी की इच्छा करनी चाहिये। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों का प्राप्त होता है जो परमात्मा को जान के मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है वह संकल्पमय शरीर से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं क्योंकि जो शरीर वाले होते हैं वह सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते जैसे इंद्र से प्रजापति ने कहा कि हे परम पूजित धन युक्त पुरुष यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है, और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है सो शरीर इस मरण और शरीर रहित जीवात्मा का निवास स्थान है। इसलिये यह जीव सुख दुख से सदा ग्रस्त रहता है और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है उसको दुःख सुख का स्पर्श भी नहीं होता सदा आनन्द में रहता है।

प्र०—जीव मुक्ति को प्राप्त कर पुनः जन्म मरण रूप दुःख

में कभी जाते हैं वा नहीं ?

क्योंकि—न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते इति ॥

उपनि० छा० प्र० ८ खं० १५ ॥

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम । भगवद्गीता ।

इत्यादि वचनों से विदित होता कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता ।

उ०—यह बात ठीक नहीं क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है ।

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
सनो मह्या आदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

ऋ० मं० १ सू० २४ मं० १.२ ॥

प्र०—हम लोग किस नाम को पवित्र जाने कौन नाश रहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का ही दर्शन कराता है ।

उ०—हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जाने जो हम को मुक्ति में आनन्द भुगा कर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है । जैसे इस समय जीव बन्ध मुक्त हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं अत्यंत विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ।

प्र०—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहते हैं ?

उ०—ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ मुण्डक ३ खं० २ मं० ६ ।

यह मुण्डक उपनिषद् का वचन है वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनंद को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। इसकी संख्या यह है कि तेंतालिस लाख बीस हजार वर्षों की एक चतुर्युगी दो हजार का एक अहोरात्र ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शतवर्षों का परान्त काल होता है। इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है।

प्र०—सब संसार और ग्रंथ कारों का यही मत है कि जिस से पुनः जन्त मरण में कभी न आवे।

उ०—यह बात कभी नहीं हो सकती क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है जिन के साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता। और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें।

प्र०—जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है इस से निःशेष नहीं होते।

उ०—जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जावें क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती उसका नाश अवश्य होता है तो फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी जीव विनष्ट हो जायें इससे मुक्ति अनित्य हो गई और तो ईश्वर अन्त वाले कर्मों का अनन्त फल देवे

तो उसका न्याय नष्ट हो जाय जैसे एक मन भार उठाने वाले के सिर पर दशमन धरने से, भार धरने वाले की निंदा होती है वैसे अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं, चाहे कितना बड़ा धन कोश हो जिसमें व्यय है आय न हो उसका कभी न कभी दिवाला निकल ही जाता है। इससे यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना वहां से पुनः आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारागार से जन्म का कारागार अथवा फांसी कोई अच्छा मानता है ? जब वहां से आना ही न हो तो जन्म कारागार से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती है और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

प्र०— जैसे परमेश्वर नित्य मुक्त पूर्ण सुखी वैसा ही जीव भी रहेगा तो कोई दोष न होगा।

उ०—ऐसा कभी नहीं हो सकता परमेश्वर अनन्त स्वरूप, सामर्थ्य, गुण, कर्म, स्वभाव वाला है इस लिये वह कभी अविद्या दुख बन्धन में नहीं गिर सकता। जीव मुक्त होकर भी चेतन स्वरूप, अल्पज्ञ और परिमित गुण कर्म स्वभाव रहता है परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

प्र०—जब ऐसी तो मुक्ति भी जन्म मरण के सदृश है इसलिये श्रम करना व्यर्थ है।

उ०—मुक्ति जन्म मरण के सदृश नहीं क्योंकि जब तक ३६००० बार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना दुःख न होना क्या छोटी बात है जब थोड़े समय के लिये क्षुधा, तृषा, क्षुद्र राज्य प्रतिष्ठा स्त्री सन्तान के वास्ते उपाय करना आवश्यक है तो मुक्ति इतने समय परमानन्द के लिये क्यों न प्रयत्न करना।

प्र०—मुक्ति के क्या साधन हैं।

उ०—कुछ साधन तो प्रथम कह आये हैं परन्तु विशेष उपाय यह हैं। जो मुक्ति चाहे वह जीवन मुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पाप कर्मों का फल दुःख है उनको छोड़ सुख रूप फल को देने वाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे जो कोई दुःख से बचना और सुख पाना चाहे वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे। क्यों कि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है। प्रथम सत्पुरुषों के संग से विवेक अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्माधर्म, कर्तव्याऽकर्तव्य का निश्चय अवश्य करें पृथक् २ जाने और शरीर अर्थात् पंच कोशों का विवेचन करे। चार अवस्था, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय कहाती हैं चार शरीर—स्थूल जो यह दीखता है दूसरा सूक्ष्म शरीर पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियें, पांच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्वों का समुदाय तीसरा कारण जिसमें सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा होती है चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है जिसमें समाधि से परमात्मा के आवेश में मग्न जीव होते हैं। इन सब कोश अवस्थाओं से जीव पृथक है क्योंकि यह सब जानते हैं कि मृत्यु में जीव शरीर से निकल जाता है यही जीव सब का प्रेरक, धर्ता, साक्षी, कर्ता, भोक्ता कहाता है। जो कोई कहे जीव कर्त्ता भोक्ता नहीं तो उसको जानो अज्ञानी अविवेकी है। क्यों कि विना जीव के ये सब जड़ पदार्थ हैं इनमें सुख दुःख का भोग पाप पुण्य कर्तव्याऽकर्तव्य कभी नहीं हो सकता, हां इनके सम्बन्ध से जीव कर्ता भोक्ता है दूसरा साधन वैराग्य—अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जानना उसमें सत्याचरण को ग्रहण असत्याचरण का त्याग वैराग्य है तीसरा साधन षट्सम्पत्ति अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना, एक "शम" जिसमें अपने आत्मा और अंतःकरण को

अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा "दम" जिस से श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना, तीसरा "उपरति" दुष्ट कर्म करने वाले पुरुषों से सदा दूर रहना चौथा "तितिक्षा" चाहे निंदा स्तुति हानि लाभ कितना ही क्यों न हो परन्तु मुक्ति साधनों में सदा लगे रहना पांचवां "श्रद्धा" जो वेदादि सत्य शास्त्र और उनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान तत्त्वोपदेष्टाओं के वचनों पर विश्वास करना, छठा "समाधान" चित्त की एकाग्रता में छः मिलकर तीसरा चौथा "मुमुक्षुत्व" अर्थात् जैसे क्षुधा तृषातुर को सिवाय अन्य जल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता वैसे बिना मुक्ति के साधन के दूसरे में प्रीति न होना। ये चार साधन और चार अनुबंध है प्रथम अधिकारी इन चार साधनों से युक्त को कहते हैं दूसरा अनुबंध ब्रह्म की प्राप्ति रूप मुक्ति वेदोक्त को अन्वित करना, तीसरा विषयी सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म की प्राप्ति रूप विषय वाले पुरुष को विषयी चौथा प्रयोजन सब दुखों से निवृत्ति और परमानंद की प्राप्ति में चार अनुबंध कहाते हैं।

"श्रवणचतुष्टय" एक "श्रवण" जब कोई विद्वान उपदेश करे तब शांत ध्यान देकर सुनना विशेष ब्रह्म विद्या को क्योंकि यह सब विद्याओं से सूक्ष्म और परमानंददा है दूसरा "मनन" एकान्त देश में बैठ कर सुने हुये का विचार करना, शंका हो पुनः पूछना तीसरा "निदिध्यासन" जब सुनने और मनन करने से निस्सन्देह हो जाय तब समाधिस्थ होकर उस बात को समझना निश्चय करना चौथा "साक्षात्कार" अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप गुण और स्वभाव हो वैसा याथातथ्य जान लेना "श्रवण चतुष्टय" कहाता है। सदा तमोगुण अर्थात् क्रोध, मलीनता, आलस्य, प्रमाद

आदि, रजोगुण ईर्षाद्वेष काम अभिमान विक्षेप आदि दोषों से अलग रह के सतोगुण अर्थात शांत प्रकृति, पवित्रता विद्या विचार आदि गुणों को धारण करे। "मैत्री" सुखी जनों में मित्रता "करुणा", दुःखी जनों पर दया, (मुदिता) पुण्यात्माओं से हर्षित होना, "उपेक्षा" दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना। नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घंटे मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे जिससे मन आदि का साक्षात हो। देखो! अपने चेतन स्वरूप हैं--इसी से ज्ञान स्वरूप और मन के साक्षी हैं।

प्र०—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक सा है वा भिन्न जाति के ?

उ०—जीव एक से परन्तु पाप पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं। नीच ऊंच योनि प्राप्त होती है शरीर से वियोग का नाम जीव का मृत्यु और संयोग होने का नाम जन्म है। जब जीव शरीर को छोड़ता है तब यम लय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है क्योंकि "यमेन वायुना" वेद में लिखा है यम नाम वसु का है गरुण पुराण का कल्पित यम नहीं। पश्चात् परमेश्वर उस जीव के पाप पुण्यानुसार जन्म देता है। वह वायु अन्न जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ठ होता है। क्रमशः वीर्य मेजा गर्भ में स्थित हो कर्मानुसार नर मादा मनुष्य पशु का शरीर धारण कर बाहर आता है इसी प्रकार नाना जन्मामरण में तब तक जीव पड़ा रहता तक मनुष्य शरीर में उत्तम कर्मोपासना ज्ञान को प्राप्त करके मुक्ति नहीं पाता।

प्र०—मुक्ति एक जन्म में होती वा अनेक जन्मों में।

उ०—अनेक जन्मों में भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यंते सर्व-संशयाः। मु० २-२-८

प्र०—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता वा पृथक रहता है।

उ०—पृथक रहना, जो मिल जाय तो मुक्ति का सुख कौन भोगे, और वह मुक्ति तो नहीं जीव का प्रलय जानना चाहिये।

अब पाठक गण संक्षेप से कुछ नास्तिकों का कहना लिखते हैं।

श्लोकार्धेन्प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

इसका अर्थ वह ऐसा करते हैं कि करोड़ों ग्रंथों का यह सिद्धांत है ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। यह नवीन वेदान्तियों का कहना है वेदांति लोग ब्रह्म से जगत की उत्पति मानते हैं तो ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य्य असत्य कभी नहीं हो सकता और ब्रह्म के सर्व व्यापक होने से वह कभी जीव से परे दूर नहीं—श्लोक वाले का अर्थ तो यह है कि मुक्ति के वास्ते ब्रह्म तो सत साधन है और जो जगत को मुक्ति साधन मानते वह मिथ्या है और जैसे आंख को देखने से सुरमा देखा जाता है दूसरे कहते हैं कि स्वभाव से जगत् की उत्पति होती है। जैसे पानी अन्न एकत्र हो सड़ाने से कृमि उत्पन्न होते हैं। बीज पृथिवी जल के मिलने से घास वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं जैसे समुद्र वायु के योग से तरङ्ग और तरङ्गों से समुद्र फेन, हल्दी चूना और नीबू का रस मिलाने से रोरी बन जाती है वैसे सब जगत् तत्वों के स्वभाव गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसका बनाने वाला कोई भी नहीं।

उ०—जो स्वभाव से जगत की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानें तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनों स्वभाव युगपत द्रव्यों के मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो निमित्त के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे तो निमित्त, उत्पत्ति और विनष्ट होने वाले द्रव्यों से प्रथक मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता तो प्रलय में ही उत्पत्ति विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल चन्द्र सूर्य्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते? जिस के योग से जो २ उत्पन्न होता है वह २ ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज अन्न जलादि के संयोग से घास वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं बिना उनके नहीं। जैसे हल्दी चूना और नींबू का रस दूर २ देश से आकर आप नहीं मिलते। किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथा योग मिलाने से रोरी होती है, अधिक न्यून व अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति परमाणुओं का ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के बनाये विना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्य्यसिद्धि के लिये विशेष पदार्थ नहीं बन सकते इस लिये स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है।

प्र०—इस जगत का कर्ता न था न है और न होगा किन्तु अनादि काल से यह जैसा का वैसा बना है न कभी इस की उत्पत्ति हुई न कभी इसका विनाश होगा।

उ०—बिना कर्ता के कोई भी क्रिया व क्रिया जन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग विशेष से रचना दीखती वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से

बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और योग के अंत में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानें तो कठिन से कठिन पाषाण हीरा फौलाद आदि तोड़ टुकड़े कर गला व भस्म देखो कि इनमें परमाणु पृथक् २ मिले हैं वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग २ भी अवश्य होते हैं।

प्र०—जैनी कहते हैं अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि गुण युक्त केवल ज्ञानी होता है वही जीव परमेश्वर कहाता है।

उ०—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो तो साधनों से सिद्ध होने वाले जीवों का आधार जीवन रूप जगत् शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते, बिना उनके जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते तो सिद्ध कहाँ से होता ? जीव चाहे जैसा साधन कर सिद्ध होवे तो भी ईश्वर की जो अनादि सिद्धि जिसमें अनन्त सिद्धि है उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता। क्योंकि जीव का ज्ञान परम अवधि तक हो तो भी परिमित ज्ञान परिमित सामर्थ्य वाला होता है अनन्त कभी नहीं हो सकता। देखो कोई भी योगी आज तक ईश्वरकृत सृष्टि क्रम को बदलने हारा नहीं हुआ है न होगा जैसे अनादि सिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का नियम किया है इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता, जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

प्र०—पांच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उ०—यह बात ठीक नहीं, क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है वे सब नित्य हो तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न तथा

विनष्ट होते देखते ही हैं। इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते। नवीन वेदान्ती लोग कपोल कल्पित अर्थ अनर्थ रूप करके जगत् की हानि मात्र ही करते हैं तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःख सागर में डुबा देते हैं, सो केवल अल्प ज्ञानी लोग इनके उपदेश जाल में फंस के मत्स्यवत मरण क्लेश युक्त होके अधर्म अनैश्वर्य और पराधीनता आदि दुःख स्वरूप संसार चक्र में सदा बद्ध रहते हैं। एक बात तो इनकी यह है कि जीव को ब्रह्म मानना दूसरी बात यह है कि स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्ता और अभोक्ता हैं।

तीसरी बात यह है कि जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं। चौथे मोक्ष में जीव का लय मानते हैं। तथा न वास्तव में मोक्ष और बन्ध है इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं—

जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं।

प्रज्ञानमानन्दंब्रह्म इस को ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है किन्तु वेद का व्याख्यान जो ऐतरेय ब्राह्मण है उसमें ऐसा वाक्य है कि "प्रज्ञान ब्रह्म" सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि "प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिनतत्प्रज्ञानं" अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूपम् (व्याख्या) जिसमें प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है वह प्रज्ञान कहावे। अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान का लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता न हुआ और न होगा।

"ब्रह्म" जो सब से बड़ा और सब जगत् का बढ़ाने वाला, स्व भक्तों को अनन्त मोक्ष सुख से बढ़ाने वाला तथा व्यवहार में भी (बृहत) बड़े सुख का देने वाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव व स्वरूप है। इस वाक्य को नाम 'महा वाक्य' नवीन वेदान्तियों ने रखा है सो अप्रमाण है क्योंकि किसी ऋषि कृत ग्रन्थ में इसको महावाक्य नहीं लिखा है दूसरे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्य को वेदान्ति लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूं अर्थात् भ्रांति से मैं जीव बना था, सो अब मैं ने जान लिया कि मैं साक्षात ब्रह्म हूं। यह अनर्थ इनका महा खोटा है क्योंकि पूर्वापर ग्रंथ का सम्बन्ध देखे बिना बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलब सिन्धु का अर्थ करके स्वार्थ सिद्धि करते हैं। देखो इस वचन का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार का है—शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपाठक ? ब्राह्मण २ कण्डिका १८–१९–२०–, २१–२२।

आत्मेत्येवोपासीत ॥१८॥ प्रियꣳरोत्स्यतीतीश्वरोह ॥१९॥ यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं ॥२०॥ ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् तदात्मान मेवावेदहं ब्रह्मास्मीति ॥२१॥ तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे ॥२२॥

"अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः"

इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म है वह सब से प्रिय स्वरूप है उसी को जानना। पुत्र वित्त धन तथा सब जगत् के सब पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है तथा अन्तर तर आत्मा का अन्तरयामी परमात्मा है जो कि

अपने सबों का आत्मा है जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है उसके प्रति "अयात्" कहे कि तू परमात्मा से अन्य को प्रिय बतलाता है सो तू दुःख सागर में गिर के सदा रोवेगा और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य पाषाणादि जड़ की उपासना व प्रीति करेगा सो सदा दुःखी रहेगा और जो सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषण युक्त परमेश्वर की उपासना करता है वह इस लोक जन्म तथा परलोक पर जन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है और उसी ईश्वर की कृपा से "ईश्वरोहतथैवस्याह" मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त होके सामर्थ्य सत्तावान होता है अन्य नहीं। तथा "महास्यप्रियं प्रमायुकंभवति" यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख "प्रमायुक" नष्ट कभी नहीं होता किन्तु उसको सर्वत्र स्थिर सुख रहता है क्योंकि "अत्र ह्येते सर्व एक भवति" जिस ब्रह्म ज्ञान से सब परस्पर प्रीति युक्त होके जैसा अपने को सुख व दुःख प्रिय और अप्रिय ज्ञान पड़ता है वैसा ही प्राणी मात्र का सुख व दुःख तुल्य समझ के न्यायकारित्वादि गुण युक्त और सब मनुष्य मात्र के सुख में एकीभूत होके एकी रूप सुखोन्नति करने में सब प्रयत्न करते हैं क्योंकि जैसा आत्मा अपना है वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है, "तदाहुः" इत्यादि जो मनुष्य ब्रह्मविद्या युक्त हैं वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला वही है, सब जगत् में "तद्ब्रह्मवित्" व्याप्त होके सब की रक्षा कर रहा है 'किमु' और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं 'ब्रह्म वा इदमित्यादि',

सृष्टि की आदि में एक सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही वर्तमान था सो अपने आत्मा को 'अहं ब्रह्मास्मीतिसदैववित्' स्वस्वरूप का विस्मरण उसको कभी नहीं होता, उस परमात्मा के सर्व सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ ऐसा जो विद्वानों के बीच में से जीव, ब्रह्म को अविद्या निद्रा से उठ के जानता है सो हो ब्रह्मानन्द सुख युक्त होता है तथा ऋषि, अर्थात् जो मनुष्य अज्ञान निंद्रा से उठ के ब्रह्मविद्या रूप प्रकाश को प्राप्त होता है सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है "तद्देतदित्यादि" ऐसा विज्ञान जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था, सो यह विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा सो भी इस प्रकार जानेगा 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति' मैं ब्रह्म हूं अर्थात् ब्रह्मस्थ हूं मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक भर रहा है। जो इस प्रकार ज्ञान वाला पुरुष होता है सो इस सब सुख को प्राप्त होता है उसके सामने अनैश्वर्य वाले जो देव इन्द्रिय व अन्य विद्वान ऐश्वर्य वाले नहीं होते किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक है सो इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात प्रिय स्वरूप होता है, जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं और आकाश तथा घर एक भी नहीं किन्तु पृथक् २ दोनों हैं एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध से भिन्न व अभिन्न नहीं हो सकता, बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक में स्पष्ट लिखा है सो वचन यह है—

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा नवेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" ॥

" हे जीवात्मन ! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत स्वरूप उपास्य है तेरे में व्यापक होके भर रहा है तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है वैसे परमात्मा का तू भी शरीर वत् है जो तेरे बीच में रह के तेरा नियन्ता है उस अन्तर्यामी को छोड़ के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न किसी देहधारी विद्वान को ब्रह्म जाने अथवा उपासना करे वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ तथा वह मेरे से भिन्न है उससे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूं। वह विद्वानों में पशु है जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता, इत्यादि यह यजुर्वेद का वचन नहीं है किन्तु शतपथ ब्राह्मण का पूर्वोक्त वचन है, वैसे ही " तत्त्वमसि " यह भी सामवेद का वचन नहीं है किन्तु सामब्राह्मणान्तरगत छान्दोग्य उपनिषद् का है। इस का भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रखा है उसमे ऐसा प्रकरण है कि—

" स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳसर्वं तत् सत्यꣳ स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति ' ।

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत का आत्मा है सो कैसा है कि जो अणिमादिक अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति आकाश जीवात्मा से अत्यन्त सूक्ष्म तथा सत्य है, हे श्वेतकेतो ! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधार भूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप अविनश्वर है।

प्र०—जैसे ईश्वर जीवादि जगत् का आत्मा है वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं ?

उ०—"स आत्मा" परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं किन्तु उसका आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो ! जो सर्वात्मा है सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है इससे सर्व शक्तिमत्व भ्रान्त्यत्वादि दोष रहितत्वादि गुण वाले ब्रह्म का संभव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्प शक्तिमत्व, भ्रांत्यादि दोष सहितत्वादि गुण वाला जीव है इससे जीव ब्रह्म की एकता मानना केवल भ्रांति है, चौथा "अयमात्मा ब्रह्म" इस को अथर्व वेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्व वेद का तो नहीं है किन्तु माण्डूकोपनिषदादिकों का है इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील योगी पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देख के कहता है कि यह जो मेरा अंतर्यामी है यही ब्रह्म है अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। इस लिए जो आज कल के वेदान्ती जीव ब्रह्म की एकता करते हैं वे वेदान्त शास्त्र को नहीं जानते।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥ तैत्तिरीय ब्रह्म० अनु० ६

परमेश्वर शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनु प्रविष्ट हो रहा है। अनु शब्द का अर्थ जानते तो ऐसा न कहते इस लिये यह जगत् ब्रह्म, नाम ब्रह्मस्थ ही है केवल एक रस ब्रह्म वस्तु है, इसमें कोई दूसरी कोई वस्तु नहीं, जैसे किसी ने कहा यह सब घृत है तेलादिक से मिश्रित नहीं है वैसे उस ब्रह्म की उपासना शांत होके जीव अवश्य करे और किसी की नहीं !

(२) दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्ता भोक्ता जीव ही है क्योंकि अन्य सब बुध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं सो पाप पुण्य का कर्ता भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं क्योंकि वेदादि शास्त्रों में यही सिद्धान्त है।

" श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्धया निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति "।

इत्यादि प्रतिपादन किये हैं जैसे **'असिनाछिन्नत्तिशिरः'** तलवार से किसी का शिर काटता है इसमें काटने का कर्ता मनुष्य ही है साधन तलवार है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य को होता है तलवार का व तलवार बनाने वाले को नहीं इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप पुण्य का कर्ता जीव ही है अन्य नहीं। यह गौतम मुनि तथा व्यासादिकों ने सिद्ध किया है कि—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुख ज्ञानात्यात्मनो लिङ्गमिति ॥ तयोरन्यः पिप्पलंस्वादुअत्रि।

अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्ता भोक्ता है इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषय भोग रूप स्व मतलब साधने के लिये यह बात बनाई है कि जीव अकर्ता अभोक्ता और पाप पुण्य से रहित हैं यह बात नवीन वेदांतियों की मिथ्या ही है।

३—तीसरे इन की यह बात है कि जगत को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं, सो केवल इनका अविद्यान्धकार का माहात्म्य है ग्रंथ अधिक न हो इस लिये जगत सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है। जिसका मूल सत्य है उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत का कारण है सो नित्य है क्योंकि परमात्मा नित्य है तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है उसी से यह जगत हुआ सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता, कोई ऐसा कहे कि संयोग जन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं हो सकता वियोगान्त में नहीं रहता सो वर्तमान में भी नहीं हो सकना चाहिये। इसका यह उत्तर है कि विद्यमान सत पदार्थों का ही संयोग होता है, जो पदार्थ नहीं उनका संयोग भी नहीं होता, इससे वियोग के अंत में भी प्रथक २ वे पदार्थ सदैव रहते हैं। कितना ही वियोग होतो अन्त में अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के विना कभी नहीं मिल सकते। तथा वियोग होने के विना वियुक्त नहीं हो सकते सो मिलना और प्रथक होना यह पदार्थों का गुण है जैसे मिट्टी में मिलने के गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं बालुका से नहीं। वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत बना है उससे संयोग और वियोगात्मक गुण, स्वभाविक, ही हैं इससे निश्चित हुआ कि जगत का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं उनका यह कहना सिद्धांत. मिथ्या भूत है ऐसा निश्चित जानना।

४—चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्ष समय में मानते हैं जैसे समुद्र में बहुत बिन्दुओं का मिलना यह भी उनकी बात मिथ्या है इस के मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रंथ

विस्तार न हो इसी लिये संक्षेप से लिखते हैं कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यकादि उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि :—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्चन विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

जब मनुष्य की इन्द्रिय द्वारा निकलने वाली बाह्य वृत्ति और भीतर अन्तः करण में रहने वाली बुद्धि सब उपद्रवों से रहित शांति स्थित होती है अर्थात् शुद्ध ज्ञान स्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्द स्वरूप युक्त होके सदा आनन्द में रहता है उसी को मोक्ष कहते हैं।

दुःख जन्म, प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । बाधना लक्षणंदुःखम् ।

मिथ्याज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतन बुद्धि और चेतन में जड़ बुद्धि इत्यादि अनेक प्रकार के मिथ्या ज्ञान हैं उसकी निवृति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत हो जाते हैं दोष की निवृति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयाशक्ति और अन्याय में आसकता है निवृति हो जाती है प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है जन्म के छूटने से दुख छूट जाता है सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत प्राप्त होता है। बाधना, विविध प्रकार की पीड़ा उनकी अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यंतानन्द सदा के लिये प्राप्त होता है इत्यादि अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता किन्तु ब्रह्म में अत्यन्तानन्द रूप जीव रहता है। तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालों के मत में ब्रह्म ही भ्रांत अज्ञानी हो जाता क्योंकि जब सृष्टि की उत्पति नहीं हुई थी तब ज्ञान स्वरूप शुद्ध ब्रह्म था

वही ब्रह्म अविद्यादि दोष युक्त होके दोषी हो गया सो यह वेद शास्त्रों उपनिषद वेदान्त से अत्यन्त विरुद्ध मत है।

"शुद्धम पाप विद्धं कविरित्यादि।"

यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध पाप रहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है उसमें अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते क्योंकि देश काल का परिच्छेद ईश्वर में नहीं भांत्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० २० ॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विधान और संग प्रतिपादन है इससे ईश्वर जीव का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है ऋषि मुनि विद्वानों की नहीं। ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत बनाया है इसमें प्रमाण—

त्वमस्यपारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।

ऋ० स० अ० १ । अ० ४ । व० १३ मं० १२ ॥

"स्वभूत्या स्वासमर्थ्य" तथा ओजसः अनन्त, पराक्रम से भूमि जल स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेकर सूर्य पर्यन्त सब जगत को बनाया है रक्षण धारण तथा प्रलय आप ही करते हैं।

"अन्यद्विश्वंस्वस्माद्भिन्नंतं चकृषे कृतवानसि।"

इस सब जगत को अपने स्वरूप से अन्यत भिन्न, वस्तुभूत रचा है आप जगत रूप नहीं बनें तथा—

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यंतिधीरा स्तेषां

शांति शाश्वतीनेतरेषाम् ।। कठवल्लीम् मं १३ ।।

जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि नित्यों के बीच में नित्य है तथा असंख्यात जीवादि चेतनों के बीच में जो एक है तथा जो पृथिव्यादि स्वर्ग पर्यन्त पदार्थों की रचना तथा ज्ञान से सब कामों के विधान को प्राप्त करता है उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं उन जीवों को ही निरंतर शान्ति सुख प्राप्त होता है अन्य को नहीं । व्यापक व्याप्य, तथा अंतर्यामी अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं हो सकते क्योंकि परमात्मा अति सूक्ष्म होने से जीव का अंतर्यामी है पर जीव, जीव का नहीं हो सकता इससे जीव और ब्रह्म कभी एक नहीं हो सकते, व्याससूत्रनेतरो अनुपत्तेः इतर जीव से जगत रचना की चेष्टा नहीं हो सकती "भेदव्यपदेशाच्च" ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं "मुक्तोपसृत्य व्यपदेशा" मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त होके आनंदी होते है प्राणभृच्च प्राणधारी जीव जगत का कारण नहीं विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांनेतरौ विशेषणादिव्य और सर्वज्ञादि "भेदव्यपदेश" जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे हैं इससे जीव प्रकृति जगत के कारण नहीं हैं जो जीव ब्रह्म एक होते तो निषेध का संभव नहीं हो सकता, इत्यादि व्यास जी के शारीरक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं किंतु अलग अलग है नवीन वेदान्ती लोगों ने पञ्चीकरण की कल्पना निकाली है वह भी अयुक्त है त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है क्योंकि आकाश का पंची करण विभाग वा संयोग करना असम्भव है, नवीन वेदान्ती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है क्यों कि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं

एक जगत् को मिथ्यामानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना, जगत् मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं यह जगत् स्वप्न के तुल्य है, सो यह उनका कहना मिथ्या है जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है उसका मिथ्या कहने वाले काही कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के बिना स्वप्न ही नहीं होता, सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता, जो जीव ब्रह्म हो तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है वैसे एक मक्खी या मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और जीव ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है जगत् को मिथ्या मानने में जगत् उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा का अत्यन्त नष्ट होने से जगत के जितने उत्तम कार्य हैं वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सर्वनष्ट हो जाता है क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिल्कुल छूटने से केवल मिथ्या अभिमान, स्वार्थ साधन तत्परता, अन्याय का करना, पाप में प्रवृति इन्द्रियों के विषयों के भोग में फंसने से अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्य जन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फल प्राप्ति करना सोनिष्फल हो जाता है इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों को प्राप्त करने को ब्रह्म विद्या के ज्ञाता गुरुओं को खोजो क्योंकि जब तक ब्रह्म ज्ञानी गुरु न मिलें तब तक तुम अपनी वास्तविक अवस्था को नहीं जान सकते क्योंकि ऐसा प्रत्यक्ष होता है कि (अन्धे) जो खुद अविद्या में फसे हैं के पीछे चलकर दूसरा भी कुंवे में जा गिरता है, इस लिये

व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठन पाठन और नाना भाषाओं में वेदादि शत्य शास्त्रों का सत्यार्थ प्रकाश करना एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कला कौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ दुराग्रह, दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम २ पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों को हिताहित विचारना और सत्य व्योहारों की उन्नति करना इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्तव्य है इसको सब विरोध छोड़कर सिद्ध करना यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है। इस को सब सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेगें ऐसी मुझको पूर्ण आशा है इसकी सिद्धि के लिये सर्व शक्तिमान जगत् के पिता, माता, राजा, बंधु जो परमात्मा है इससे मैं अत्यन्त नम्र होके प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटा कर सन्मार्ग में चलावें यही हमारा परम गुरु है।

प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि दुःख से छूट कर सुख प्राप्त करें और इसी के लिये समस्त संसार के मनुष्य रात दिन प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु वेद विद्या का ज्ञान न होने से सुख और दुःख के ठीक २ साधनों को न जान। दुःखदायक वस्तुओं को सुख दायक समझ कर दुःख उठा रहे हैं ईश्वर जीव प्रकृति के गुण कर्म और स्वभाव को ठीक २ ज्ञान न होने से मनुष्य जीवन ऐसे अनमोल रत्न को पशुओं की भांति केवल पेट पालने व लोकिक एषणाओं में खो रहे हैं लाखों मनुष्य इस विद्या के न जानने से ऐसे बुरे मार्ग पर चल रहे हैं कि जहां उनकी आयु की पूंजी वर्बाद होती है वहां और कुकृतों का मैल उनकी आत्माओं को ढाक लेता है इस से शांति का मिलना तो कठिन है सब दुःखों से छुटा कर सुख देने

वाले परमात्मा को मनुष्यों ने ऐसा भुला दिया कि लगभग सर्व संसार में उसके ठीक २ स्वरूप को जानने वाले बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं शेष सब इसके कि ईश्वर के गुणों का वर्णन करें उसकी निंदा करते हैं। कोई उस सर्व सहायक सर्व व्यापक और परम शक्तिमान् को कोठे पर कैद कर रहा है विपरीत इसके कि उसकी बगैर सहायता कोई काम नहीं बनता, उसकी सहायता के लिये फरिश्तों और पैगम्बरों को बता रहा है, कोई उस पवित्रात्मा को भक्तों पर दया दिखाने वाला बता रहा है, कोई ईश्वर के साथ पिता पुत्र और रुहुल कुसरा के नाम से जीव ब्रह्म प्रकृति की सत्ता से विमुख होकर सृष्टि को अनादि बता रहा है, कोई मुक्त पुरुषों को तीर्थंकर तथा सिद्ध कह कर उन्हें मोक्ष शिला पर आसीन करता हुआ पुजवा रहा है, कोई ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या कह के ब्रह्म को ही सब कुछ बता रहा है तात्पर्य यह है कि चारों ओर ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में ऐसा अंधेरा छा रहा है कि जब तक इन पदार्थों का ठीक २ ज्ञान न संसार में फैल जावे, तब तक कोई मनुष्य सुख और शांति से जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। नियत मार्ग पर पहुंचने का कहना ही क्या है, सब संसार का धर्म, कर्म प्रतिष्ठा और सदाचार सब धन के सहारे आ रहा है, जिसके पास रुपया है वह सहस्रों प्रकार की बुराइयों के करने पर भी सदाचारी है उस के दुराचारों पर दृष्टि डालने वाला कोई नहीं, और जिसके पास धन नहीं वह किसी प्रकार भी संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इसी से प्रत्येक साधू ब्राह्मण जिनको रुपया रखना भारी पाप समझा जाता था धन के कमाने में लग गये, तात्पर्य यह है कि बड़े २ धर्म प्रचारकों को भी धन कमाने की धुन ने धर्म के मार्ग से प्रथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास

पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे, वे लोग भी टके के ध्यान में फंस कर स्वयं अपनी नाव को भंवर में फंसा बैठे हैं। ऐसी अवस्था को देख कर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त मनुष्य मात्र को ईश्वर, जीव, प्रकृति का ठीक २ बोध कराने के हेतु, वेदों और उपनिषदों से जो विद्वान महा पुरुषों ने बताया है; ज्ञान इस छोटी सी पुस्तक में संक्षेप से दिया है। जिन पाठकों को विशेष देखना हो सो सत्यार्थ प्रकाश, उपनिषद् प्रकाश व वेदान्त दर्शन, ऋग्वेद भाष्य भूमिका—वेदांत ध्वांति निवारण और वैदिक विनय में देखें। मैंने उनमें से संक्षेप से संग्रह किया है। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार की न थी कि ऐसे गहन विषय पर लिखता ऐसे ग्रन्थ बहुत से लिखे ही हैं पर मैंने तो उन्हीं ग्रंथों से संक्षेप से, उन भाइयों को दर्शाने की चेष्टा की कि जो बड़े २ ग्रंथों के पढ़ने से घबराते हैं और वास्तविकता से अनभिज्ञ रह कर मनुष्य शरीर रूपी उत्तम रत्न को यों ही वृथा गवां जाते हैं।

मनु जी महाराज ने कहा है कि धर्म का निश्चय वेद द्वारा करे सो वेदों में अवयव रूप विषय तो अनेक हैं पर उनमें मुख्य चार हैं (१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों का यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है, (१) विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म कण्ड उपासना और ज्ञान इन तीनों के सिद्धी का हेतु है अर्थात् परमेश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों के साक्षात् बोध का होना उनसे यथावत् उपयोग का करना, इससे यह विषय इन चारों में प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है। सो भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस

का यथावत् पालन करना और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार कर उनसे कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस २ प्रयोजन के लिये रचे हैं।

तस्मै सहोवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः सतपोऽतप्यत, सतपस्तप्त्वा समिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणंचेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। प्रश्नो० १-४ मं०

दयालु न्यायकारी परमात्मा ने अपनी जीव रूप अनादि प्रजा के आनन्दार्थ अपने स्वाभाविक दया और न्याय से जगत् बनाने के अर्थ प्रकृति जो उसकी अनादिकाल से सम्पत्ति है उसको क्रिया देकर दो प्रकार का बनाया एक तो जीव संगत चेतन सृष्टि जो विशेष प्राणों के साथ तीन प्रकार की शक्ति रखती है अर्थात् करने न करने उलटा करने जिस में इच्छा रखने वाली चेतनता प्रकाश हो सके दूसरी जीवों से रहित भोगने की विशेष प्राणों से पृथक जड़ सृष्टि जिसका चेतन सृष्टि भोग करती है।

जिस में चेतनता नहीं किन्तु प्रबन्धक चेतन है। इस दो प्रकार की सृष्टि से ही परमात्मा की प्रजा जीव बहुत प्रकार के फल कर्मों के अनुसार भोगती है। जिनमें इच्छा रखने वाली चेतन और विशेष प्राण हैं भोगने वाली सृष्टि है जिसको चेतन सृष्टि कहते हैं जैसे मनुष्य चतुष्पाद पखेरु कृमि इत्यादि जीव धारी। अन्य जो भोगार्थ भोग्य बने हैं यथा वनस्पति मिट्टी इत्यादि। इन्हीं को जड़ चेतन, स्थावर जंगम, चराचर भोक्ता, भोग्य इत्यादि कहते हैं। प्रजापति परमात्मा ही ने इनको उत्पन्न किया है इस नियम के विरुद्ध होना अर्थात् चेतन का जड़ और जड़का चेतन होना असम्भव है।

प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ कठवल्ली ५ मं. ५

जो मनुष्य यह विचार करते हैं कि मनुष्य या पशुओं का जीवन प्राणों से है सो कोई मनुष्य या पशु प्राणों से नहीं जीवित रहता और न अपान वायु से जीवन होता है, किन्तु जीवन का कारण प्राण अपान आदि से पृथक जीवात्मा है जिसके सहारे यह प्राण इन्द्रियां और शरीर स्थित है। अतः जीव के कारण जीवन कहलाता है प्राणों के कारण नहीं। प्राण तो हर एक उत्पत्ति वाली वस्तु में हैं जिस के कारण से छः विकार जो सृष्टि को प्रकाशित करने वाले पाये जाते हैं परन्तु वे दो प्रकार के हैं एक सामान्य प्राण जो कुल जगत में मौजूद है दूसरे विशेष प्राण जो जीवधारियों ही में पाये जाते हैं। जिसमें एक प्रकार की चंचलता है उसमें समान्य प्राण होते हैं जिसमें तीन प्रकार की हरकत होती है उसमें विशेष प्राण होते हैं। इस हरकत को दो प्रकार से विभाजित किया जाता है एक चैतन्य इच्छा करने वाली है दूसरा प्रबंधक चेतन्य का चिन्ह है। करना न करना उलटा करना इस इच्छा वाले शरीर में पाचन शक्ति रक्षा और ज्ञान जो कि जीवन के चिन्ह पाये जाते हैं। पर जड़ में सामान्य रूप से प्रबन्धक चेतनता तो मौजूद होती है, पाचन शक्ति भी होती है परन्तु उनमें ज्ञान तथा रक्षा नहीं होता क्योंकि जीवन का मुख्य तत्व, ज्ञान तथा रक्षा है यह दोनों जीव का कारण हैं। सो समझो, अब चूंकि मनुष्य सब जीव धारियों में अधिक ज्ञान विचार शक्ति वाला है कर्म करने में स्वतंत्र है संसार को स्वर्गधाम व नर्क धाम बनाने की सामर्थ्य वाले है इससे होश संभालो यह योनि बड़ी उत्तम प्राप्त हुई है इस

समय को यों ही बेहोशी में न बिता दो। नहीं तो पछताना होगा। यानी अपनी सत्ता को कि मैं शरीर से भिन्न अनादि अनुत्पन्न अमृत स्वरूप जीवात्मा हूं यह शरीर साधन धाम थोड़े समय को है जड़ चेतन सृष्टि आपके ही उपयोग के लिये रची है उससे जिस पदार्थ को जिस प्रयोजन सिद्धयर्थ प्रभु ने रचा है सो काम लीजिये। जैसे जड़ सृष्टि अन्न फल साग खाने को पशु गाय भैंस बकरी भेड़ इत्यादि दूध व अन्य सहायतार्थ हैं सो उनसे वह उपयोग लेकर संसार में सुख से जीवन गुजारते ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा को आवागमन से बचाइये। यह सामर्थ्य इसी में है अन्य में नहीं। जैसे दुनिया की गवर्नमेंट का नियम भंग करने वाला सुख नहीं पाता, मनुष्य समाज बिना विचारे जीभ स्वाद को मांस खाने लगा इसी से उपयोगी पशु कसाइयों द्वारा मारे जाने लगे। पशुओं के ह्रास से उत्तरोत्तर सभी पदार्थों का ह्रास होता गया पहले अन्न व दूध मनों का था पशुओं के सस्ता होने से सभी सस्ता था कुछ बात तो यही सोचिये एक गाय भैंस बकरियाँ भेड़ मार कर एक हो बार ।ऽ ॥ऽ ॥।ऽ मांस लोगे वैसे रोजाना का दूध जोड़िये तो कितना होगा फिर उसके बच्चे दर बच्चे होंगे।

शेर

इबादत उसी की है रब को पसंद,
कि जिससे न पहुंचे किसी गंजद।
बसर चाहे हो या चरिंदो बरिंद,
मोहब्बत किसी पर न हो उसकी बंद।
हर एक से पै है रब को मोहब्बत कमाल,
कि है अपना पैदा किये का ख्याल।

इन दोनों में से भी जो ईश्वर का प्रतिपादन है सो ही प्रधान है देखो कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं। (सर्वे वेदा:)। परमपद अर्थात जिसका नाम मोक्ष है जिसमें परब्रह्म को प्राप्त कर सदा सुख ही में रहना जो सब आनन्दों से युक्त सब दु:खों से रहित और सर्वशक्तिमान परब्रह्म है जिस के नाम—'ओं खं ब्रह्म', 'तस्यवाचक प्रणव:' आदि हैं उसी को प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं। उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं। क्योंकि जगत का वर्णन उपनिषदादि ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं सत्य धर्म के अनुष्ठान तप तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के सत्याचरण रूप जो कर्म है व जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि जो अवश्य प्राप्त करने को योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं। अलङ्कार रूप नचिकेता नाम जीव और यमाचार्य से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए। (तत्र परा०) वेदों में दो विद्या हैं। एक अपरा। दूसरी परा। इनमें अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य सिद्ध करना होता है, और दूसरी यह जिससे सर्वशक्तिमान ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपराविद्या से अत्यन्त उत्तम है; क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है। सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें यही मनुष्य देह धारण करने का फल है।

कर्म काण्ड विषय। प्रथम जो परमपुरुषार्थ रूप कहा उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्व शक्तिमानादि गुणों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना, प्रार्थना, जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्य भाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना तथा वेद पातञ्जल योग शास्त्र के अनुसार ही करनी, धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है, न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना निष्काम कर्म संसार के भोगों की कामना न रखके धर्म से युक्त सब कर्मों को यथावत् करना।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि—यजु० प्र ४००

कायेन मनसा बुद्ध्या ब्रह्मण्याधाय यतःप्रवृत्तिर्भूतानां

भ. गीता **इत्यादि वचन।**

तीसरा उपासना का विषय वेदोक्त, कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी चाहिये उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें जो लोग ईश्वर के उपासक बुद्धिमान् उपासना योग के ग्रहण करने वाले हैं वे सब को जानने वाले सब विद्याओं से युक्त और सब से बड़े जो परमेश्वर है उसके बीच में अपने मन को ठीक २ युक्त करते हैं तथा अपनी बुद्धि वृत्ति सदा परमेश्वर में स्थिर करते हैं जो सब जगत का धारण विधान करता है। सब जीवों के कर्मों का साक्षी वह एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। उपासना का उपदेश देने वाले और ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम सनातन ब्रह्म की सत्य प्रेम भाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब

मैं तुम को आशीर्वाद दूंगा कि सत्यकीर्ति, तुम दोनों को प्राप्त हो जैसे विद्वानों को धर्म मार्ग यथावत् प्राप्त होता है उसी प्रकार तुम को भी सत्य सेवादि से प्राप्त हो मुक्ति का उत्तम साधना उपासना है। (क्लेश कर्म) जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो २ वासना है इन सब मे जो सदा अलग बंधन रहित है उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है वही ईश्वर है जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती इस लिये जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें। (तस्य वाचकः प्रणवः) जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है यह नाम ईश्वर को छोड़ दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है (तज्जप०) इसी नाम का जप और उसी का अर्थ विचार सदा करना चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर में प्रेम भक्ति सदा बढ़ती जाय। जो वायु बाहर से भीतर आता है उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उसको निश्वास कहते हैं उन दोनों को जाने आने को विचार से रोके नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही रोकने का नाम प्राणायाम कहते हैं यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है। वे चार प्राणायाम इस प्रकार से हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उसको बाहर ही रोक दे उसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उसको लेकर जितना

रोक सके इतना भीतर रोक दे इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले न बाहर से भीतर ले जाय किन्तु जितनी देर सुख से हो सके उसको जहां का तहां एकदम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब उससे विरुद्ध न निकलने देने के लिये बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय इसको वाह्याभ्यन्तरापेक्षी कहते हैं। इन चारों का अनुष्ठान इस लिये है जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे इस प्रकार प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांकने वाला जो अज्ञान है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है। (क्रिश्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और धारणा होने से मोक्ष पर्यन्त ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। (तदेवार्थ०) अ० १ – ३ प० ३ सू० जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके शरीर को भी भूले हुए के समान जान के आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करने वाला जिस मन से जिस चीज का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं पर समाधि में केवल परमेश्वर के ही आनन्द स्वरूपज्ञान में आत्मा मग्न हो जाती हैं वहां तीनों भेद नहीं रहता जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर आता है।

नाविरतोदुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः नाशान्त-मानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ कठवल्ली २। मं० २४॥

तपः श्रद्धेयेह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा। मुण्ड खं० २ मंत्र ११।

यह उपासना योग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग, नासमाहितः शंकाओं से निवृत्त होकर अपने मन को शांत और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता तब तक कितना ही पढ़ व सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं होसकती॥ (तपः श्रद्धेः) जो मनुष्य श्रद्धा से धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी बन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान हैं जो भिक्षायाचर्या आदि कर्म करके संन्यास व किसी अन्य आश्रम में हैं इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य द्वारेण०) प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य-राज्य में प्रवेश करके विरजः सब दोषों से छूट करके परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं जिसमें सर्वदा आनन्द है ऐसा परमेश्वर को प्राप्त होता। है श्रद्धा से सब कार्य में विजयी होते हैं। विना श्रद्धा के नहीं।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्म पुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, कंठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के उपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्म पुर परमेश्वर का नगर कहते हैं उसके बीच में जो

कमल के आकार के अवकाश रूप एक स्थान है इसके बीच में जो सर्व शक्तिमान परमात्मा बाहर भीतर एक रस होकर भर रहा है वह आनन्द स्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है दूसरा उसके मिलने का उत्तम स्थान व मार्ग नहीं है। (तदा विवेद०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बंधन के कामों में जीव फंसता है तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है। इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

बंधुओं—मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मविकास है इस अभीष्ट के लिये उसे अपनी सब प्रकार की युक्तियों का उपयोग करते रहना चाहिए। यदि मनुष्य आत्म संयम कर सका तो उसे बाह्य जगत् पर अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ेगा। स्वास्थ्य, शान्ति, आनन्द, सामञ्जस्य, शक्ति, वैभव और मुक्ति के लिये संयमित जीवन की ही आवश्यकता है।

बहुश्रुतमेव तपस्त्यागः श्रद्धायज्ञक्रियाक्षमा भावशुद्धि-र्दया संयमस्त्वात्मसम्पदः। शांति पर्व

**यस्त्विन्द्रियाणां पृथग्भाव मुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।** कठवल्ली ६ मं० ६

जब तक मनुष्य इन्द्रियों शरीर को अपना स्वरूप जानता तब ही तक दुःख और शोक रहता है क्योंकि यह उत्पन्न होने

से विकार वाले हैं जिस समय मनुष्य को यह विचार होजाता है कि मैं जीवात्मा हूं जो कि नित्य हैं और यह शरीर नाश होने वाला है यह मेरा स्वरूप किसी प्रकार नहीं हो सकता क्योंकि कोई उत्पन्न होने वाला नित्य के स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकता जब यह शरीर मुझ से प्रथक है तो उसके विकारों से मेरी हानि लाभ की क्या मैं नित्य हूं मुझ में तो विकार नहीं। अतः मुझे अपने कर्तव्य का यथावत् पालन उचित है। इन्द्रियों के विकार में लिप्त होना नितान्त भूल है निदान वह शरीर इन्द्रियों से निश्चिन्त हो जाता है और सभी प्रकार की कमजोरियां तभी तक हैं। देखो जागृत अवस्था में जब शरीर को अपना स्वरूप समझता है तो बहुत सी चिन्तायें होती हैं और सुषुप्ति अवस्था में किसी प्रकार का शोच और क्लेश नहीं होता।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना- विंदते वीर्य्यं विद्यया विंदतेऽमृतम्। केन उप० २-४ मं०

जब मनुष्य इन्द्रियों को विषयों से हटा मन को समाधि में लगा कर मानसिक प्रत्यक्ष करता है तो उससे जीवन मुक्त के आनन्द को प्राप्त करता है और आत्मा के ज्ञान को प्राप्त होकर ही आत्मिक बल प्राप्त होता है। जो मनुष्य आत्मिक शक्ति से हीन है वह किसी धर्म सम्बन्धी काम को यथार्थ नहीं कर सकता आत्मिक ज्ञान होने से आत्मा की शक्ति का ज्ञान होता है जब आत्म ज्ञान से योग-बल को प्राप्त करता है तो उसे सत्विद्या प्राप्त होती है और सत्विद्या प्राप्त होने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

तच्छुभ्रंज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः मु० ख २ मं० ९

वह परमात्मा शुद्ध है। प्रकाश करने वालों सूर्य चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करने वाला है। उसको वही मनुष्य

जानते हैं जो निज स्वरूप को जानते हैं जिसको अपने तत्त्व का ज्ञान नहीं उसको परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता जो आंख को नहीं देख सकता वह नेत्र के सुरमा को क्यों कर देख सकेगा।

प्राणोह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड़ आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः। मु० तृतीया प्रथम खण्ड मं० ४

परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण है इसी से परमात्मा का नाम प्राण है यदि परमात्मा अपनी शक्ति का संयोग न दे तो कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार शरीर में नियम पूर्वक इन्द्रियों का चलना आत्मा का प्रकाश करता है इसी तरह सम्पूर्ण ब्रह्मांड नियमानुकूल चल रहा है। वह परमात्मा की सत्ता को प्रकाश करता है जो उस परमात्मा को जान लेता है वह ज्ञानी पुरुष अधिक बोलने वाला नहीं होता, किन्तु अपनी आत्मा के भीतर आनन्द भोगता परमात्मा से ही प्रेम करता कर्म काण्डी सत्यवादी होता है ब्रह्म के जानने वालों में वही उत्तम है जो मन वाणी कर्म का सच्चा है।

सत्येनलभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥ मु० तृतीय मं० ५॥

जो मनुष्य सत्य पर चलता है वह आत्मा को जान सकता है पर जो तप का अभ्यासी नहीं वह सत्य पर नहीं चल सकता। ठीक २ ज्ञान के विना तप सहन शक्ति नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान उनको हो सकता जो नित्य ब्रह्मचर्य के अनुकूल गुरु से शिक्षा पाते

हैं। जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया उनको ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता जिनको ठीक ज्ञान न हो वे तप नहीं कर सकते वे सदा आलसी रहते हैं। आलसी कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकते। क्योंकि सोने का कई प्रकार की परीक्षा होती है इसी प्रकार जो सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है वही सच्चा ठहरता है निदान जीवात्मा अपने शरीर में तप करके उस प्रकाश स्वरूप को जिसमें मल वा तम लेशमात्र भी नहीं होता जिसको सब मनुष्य नहीं देख सकते किन्तु वे संन्यासी जानते हैं जिन्होंने कर्म काण्ड से अंतः करण के मलको उपासना से चंचलता और अहंकार के त्याग से आवरण दोष को दूर कर दिया है जब तक यह तीन प्रकार की इच्छायें और दोष विद्यमान है कोई भी परमात्मा को नहीं देख सकता अतः ब्रह्म ज्ञान के इच्छुकों को बाहर के प्रत्येक आडम्बरों को त्याग कर भीतर देखने के लिये जो साधन बताये हैं उन पर अमल करना चाहिये।

मंत्र-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्योन मेधया न बहुना श्रुतेनयमेवैष वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैषआत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ मु० तृतीया काण्ड खं ३ ॥

उस परमात्मा को उपदेश करने से नहीं जान सकते ना मेधा बुद्धि से उसका ज्ञान होता और न बहुत सुनने से तथा शास्त्रों के पढ़ने सुनने सुनाने या पढ़ाने से परमात्मा को जान सकते हैं। जिस को अधिकारी देख कर परमात्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान कर्म उपासना से सम्पूर्ण दोषों को दूर कर लिया है, जिसको परमात्मा के अतिरिक्त और किसी का आसरा नहीं, निदान जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं जिसकी बुद्धि पतिव्रता स्त्री की भांति

परमात्मा के ध्यान ही में लगी हुई जिसको और कोई विचार करना ही दुःख का कारण मालूम होता है वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है, उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। अधिकारी बनने के साधनों से जब अधिकारी बन जाता है तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देते हैं।

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष, आत्मा विशते ब्रह्मधाम। तृतीया मु० २ खंड मं०४

जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके कर्म और उपासना से आत्मिक बल नहीं प्राप्त किया उस शक्ति से शून्य मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते और जो अभिमान और अनित्य कर्मों से अर्चित हैं उनको भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते, न आडम्बरी तप से कोई परमात्मा को जान सकता है न वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग कर स्वतन्त्रता से उसको जान सकता है। यदि नियम पूर्वक ब्रह्मचारी बन, अज्ञान को नाश करके और गृहस्थाश्रम से परोपकार से मन को शुद्ध करके, वानप्रस्थ में योगाभ्यास व त्याग से सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होता है उन उपायों से जो वेदों ने बताये हैं; जो विद्वान पुरुषार्थ करता है, उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं, वह ब्रह्म धाम में प्रविष्ट होता है। प्रयोजन यह है कि परमात्मा के जानने के लिये बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषयों का मुकाबला करना पड़ता है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को अपनी ओर खींचते हैं मन विषयों की ओर आत्मा को ले जाना चाहता है। यदि आत्मा में बल नहीं है, तो मन के पीछे लग जाता है। पर ब्रह्म की उपासना करने

से आत्मा बलवान है तो विषयों से हट कर परमात्मा की ओर लग जाता है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। तेसर्वगंसर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति मु० तृतीया ख० २ ५ मं०

उस परमात्मा को प्राप्त होकर वेद को जानने वाले ज्ञानी मनुष्य जो ज्ञान से तृप्त हैं जिनको किसी वस्तु की इच्छा शेष नहीं जिनकी आत्मा बाहर की सम्पूर्ण उपाधियों से शुद्धि हो गई है जिनका रागद्वेष सब नष्ट हो चुका है जिनको विषयों की चिंता जड़ मूल से जाती रही; वह मनुष्य उस सर्व व्यापक, सब के ज्ञाता को सब स्थान पर प्राप्त होकर आत्म विचार में लगे हुये और बुद्धि को परमात्मा की ओर लगाये हुये सब कारण का कार्यरूप जगत् में स्वतंत्रता से घूमते हैं। उनको कोई बंधन नहीं होता और कहीं आने जाने में बाधा नहीं होती, इसलिये वह स्वतंत्रता से आनन्द भोगते हुये शांति से विचरते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषुपरान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्तिसर्वे ॥ मु० तृतीया खं० २ ६ मं० ॥

जो मनुष्य वेदान्त के ग्रन्थों अर्थात् उपनिषदों और वेदान्त सूत्र इत्यादि के मंत्रों और मन से जीवात्मा परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप को निश्चय कर चुके हैं. वह जीवन मुक्त संन्यास अर्थात् वैराग्य द्वारा सब वस्तुओं में दोष देखने, योग द्वारा मन ठीक करने से अथवा प्रकृति के त्याग और परमात्मा के योग से मन शुद्ध

करके इन्द्रियों को वश में करने वाले महात्मा ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर अर्थात् परमात्मा के दर्शन करके अपराविद्या के उत्पन्न हुये ज्ञान से तृप्त अंत में पराविद्या से प्राप्त मुक्ति को भोगते हैं और महाकल्प के पश्चात् फिर उस दशा से छूट जाते हैं।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

मुं० द्वितीय खं० २ का ४ मं०॥

ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सब से बड़ा कहाता है वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और लक्ष्य पर बाण लगना है वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है अर्थात् ओम् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिए बहुत ही सावधानी से क्योंकि बेपरवाही से वह बाण नहीं लग सकता, किन्तु आलस को त्याग कर अपने कर्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिये। जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण सीधा लक्ष की ओर जाता है, बीच में इधर उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिये इधर उधर नहीं भटकाना चाहिये, ताकि वह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे। जैसे परमात्मा सत्‌चित् आनन्द है उसी प्रकार जीव भी आनन्द प्राप्त करके सच्चिदानन्द हो जाय, क्योंकि सत्‌चित् तो आत्मा पूर्व से ही है आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ। अतः जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदा-नन्द बन जावेगा।

मं०—सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ।

यह सब जगत जो कुछ दीख पड़ता है ज्ञानियों की दृष्टि में ब्रह्म की शक्ति प्रकाश होने से ब्रह्म ही है। योगी समाधि की अवस्था में अपने भीतर देखता हुआ परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि यह जो मुझ में व्यापक है वह ब्रह्म ही है। सो यह आत्मा चार पादवाला है ज्ञानी पुरुष जब प्रथम संसार में जगत् के नियमानुकूल बनावट को देखता है तो उसे विचार उत्पन्न होता है कि इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। दूसरे जब स्वप्न की दशा में देखता है तो वहां भी ब्रह्म की महिमा का पता लगता है। जो वस्तु जाग्रत अवस्था में देखी होती है उनके संस्कार जो मन में स्थित हो चुके हैं वही दीखते, तीसरे जब सुषुप्ति अवस्था गाढ़ निद्रा में सो जाता है तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है जिससे संसार में रहते हुये भी दुःख दूर हो जाते हैं। चौथे जब मुक्ति में शरीर त्याग देता है तब भी ब्रह्म से आनन्द प्राप्त करता है। यह ब्रह्म के चार पाद हैं दूसरी प्रकृति सत है जीव सत्चित् है ब्रह्म सच्चिदानन्द और स्वतन्त्र है। यह सत्चित् आनन्द और स्वतन्त्रता ब्रह्म के चार पाद हैं!

आत्म ज्ञान का परम विशेषता

अभि प्रगोपतिंगिरा, इन्द्रमर्च यथा विदे। सुनूं सत्यस्य सत्पतिम् । ऋ० ८-६९-४ ॥

हे मनुष्य! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरण में जा। ये इन्द्रियां व मन इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन हैं पर भ्रामक या परिमित ज्ञान के कुतर्क में ही लगेगी।

विद्वानों व तत्त्व ज्ञानियों के उपदेश व ग्रंथ अपनी २ दृष्टि से लिखे व कहे जाने के कारण तुझे शांति न दे सकेंगे, अतः तुझे शांति दे सकने वाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से अपनी आत्मा से ही मिलेगा। इसे तू अपनी आत्मा में खोज, जो कि इन सब इन्द्रियों का स्वामी है जिसने अपनी शक्ति प्रदान कर मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रक्खा है, जो सत्य ज्ञान स्वरूप परम सत्य स्वरूप परमात्मा का पुत्र है स्वभावतः सदा सत्य का पालक है तू इस सत्य देव की पूजा कर आराधन कर यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायगा। इसके लिये तुझे वाणी में व्योहार में हर में मामले में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा। पर साथ यह भी सच है तो तेरा "सत्य सुंनू सत्पति" आत्मा प्रगट हो जायगा और अपना अमूल्य सब सत्य रत्नों का भंडार तेरे लिये खुल जायगा। तब कोई उलझन न रहेगी। तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्कना करेगा। तब तुझे सत्य मयी "ऋतंभरा" बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा जिस विषय का यथार्थ ज्ञान पाना चाहेगा. प्रकाशित हो जाया करेगा हे मनुष्य ! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

ओ३म् प्रियनो अस्तु विश्व उपतिर्होता मन्द्रो वरेरायः प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ऋ० १—३६—७

हे मनुष्य भाइयो ! हम अपने परम आत्मा को भूल गये हैं। हम यह भी भूल गये हैं कि हम स्वयं भी वास्तव में आत्मा रूप हैं, आत्माग्नि है। इसलिये हम इस संसार की परम तुच्छ धन लक्ष्मी माल असवाव, पुत्र, बधू, सुख, आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओं से तो इतना प्रेम करने लग गये हैं, इनमें इतने

आसक्त लिप्त और अनुरक्त हो गये हैं कि हमें इस गंदी दल-दल में से अब ऊपर उठना असम्भव सा हो गया है। पर जो हमारा असली स्वामी सखा और सब कुछ है परम पवित्र प्रभु है उसे हम दिन रात के चौबीस घंटों में कुछ क्षणों के लिये भी स्मरण नहीं करते। अब तो हम होश संभालें। जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपनालें। यही हम सब प्रजाओं का एकमात्र स्वामी है, वही हमें सब सुखों का देने वाला "मंद्र" है वही एक मात्र है जो कि हम सब का वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओं को सब कुछ दे रहा है। अरे प्यारो! हम उसे छोड़ कहां प्रेम करने लगे? सचमुच हमने अपनी प्रेम भक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है। क्या प्रेम ऐसी पवित्र वस्तु हमें इस अशुचि तुच्छ अनित्य वस्तुओं में रखने के लिये दी गई थी। आओ अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पालेवें, और उस मन्द्र विश्वपति को वरेण्यं होता को अपना प्यारा बना लेवें। अपना प्रेम समर्पण कर देवें।

किंतु इस तरह प्रेम पथ पर चल देने से हे भाइयो! हमें भी उसे रिझाना होगा उसे प्रसन्न करना होगा उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षण करना होगा अर्थात् हमें भो उसका प्यारा बनना होगा और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते हैं जब कि हम 'स्वग्नि' बन जांय उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जायं। अब हमारी आत्माग्नि में विश्व प्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्धि अग्नि में से सत्य की ही ज्योति ही निकले। हमारी मानसिक अग्नि सर्व कल्याण के उत्तम विचारों में ही प्रकाशित हुआ करें, और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठें। इस प्रकार हम उत्तम अग्नि वाले हो जायं, क्यों कि इसी प्रकार वह हमारा

हम से प्रसन्न होगा। इसी प्रकार हमें अपने प्यारे को रिझाना है।

यो मर्त्येष्वमृतऋतावा देवोदेवेष्वरतिर्निधायि। होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निमनुष्य ईरयध्यै ॥ऋ०४-२१॥

यह आत्माग्नि हम में और किस लिये रक्खा हुआ है। मट्टी हो जाने वाले हम मर्त्यों में जो यह कभी न नमरने वाला एक अमृत तत्व, सच्चा सत्य स्वरूप आत्मा कहलाने वाला एक तत्व निहित है इन इन्द्रिय आदि देवों के वीच में जो यह एक देव इन सब देवों में असंग रूप से गया हुआ एक अमर देव रखा हुआ है, यह और किस प्रयोजन के लिये है, निस्संदेह यह इसी लिये कि यह इसमें वढ़े प्रदीप्त होवे, अपनी महिमा द्वारा विविध प्रकार से प्रदीप्त होवे, यह जीवन इसी लिये कि इस द्वारा आत्मा अपने आप को विकसित कर सके। यह संसार इसी लिये कि इसमें आत्माग्नि अपना अधिक से अधिक प्रकाश कर सके। अपनी महान महिमा द्वारा अद्भुत सामर्थ्य द्वारा अपने दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा अपने आप को अधिक से अधिक प्रकाशित कर सके। इस लिये यह 'होता' वना है दान आदान करने वाला हुआ है। आत्मा के लिये हम जो कुछ वलिदान करते हैं उससे हजारों गुना आदान उसके विद्या ऐश्वर्यों के रूप में हमें प्राप्त होता है। इस लिये यह आत्मा ही यजिष्ठ, सर्व श्रेष्ठ यज नीय है इसका ही यजन करके हमें अत्मिक सामर्थ्यों और अत्मिक ऐश्वर्यों में अपने को प्रदीप्त करना चाहिये। किन्तु आत्मा से यह अद्भुत सामर्थ दिव्य ऐश्वर्यों का आदान तभी हो सकता है जब कि हम आत्मा के लिये दान आत्म वलिदान करते रहें। यह प्यारा आत्मा जब दीख जाता है तब तो मनुष्य पृथ्वी भर को स्वाहा करके भी इसके प्रेम को पाना

चाहता है। इसकी ज्योति इतनी प्यारी है कि उसके दर्शन मात्र से मनुष्य शेष सब अनात्म संसार को एक दम बलिदान कर देने को उत्कंठित हो जाता है। इस लिये भाइओ! जरा देखो! अंदर देखो! तुममें प्रदीप्त होने की प्रतीक्षा में यह तुम्हारा आत्माग्नि निहित है क्या तुम इसे प्रदीप्त नहीं करोगे? अमृत तुम्हें निरंतर बलिदान (यजन) के लिये प्रेरित कर रहा है क्या तुम उसकी बात नहीं सुनोगे?

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं, इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुवआ निषत्तो, अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः॥

ऋ० ६-६-४

हे मनुष्यो! अपनी आत्मा को देखो। यह अभौतिक अग्नि है न मरने वाला चेतन अग्नि है हमें जो कुछ ज्ञान बल ऐश्वर्य का दान मिल रहा है यह इसी आत्माग्नि के हवन से मिल रहा है यह हम (मर्त्येषु) इन मरने वालों में (अमृतं ज्योतिः) कभी न मरने वाली ज्योति है। (अयंसः) यही वह (ध्रुवः) नित्य स्थिर (अनिषतः) पहिले से बैठा हुआ ही अग्नि (जज्ञो स्थिर प्रादुर्भूत होती है और अमर्त्यः) अमर्त्य अभौतिक होकर भी तन्वा, अपने शरीर आदि बिस्तार द्वारा (वर्धमानः) बढ़ता हुआ होता है।

सुपर्णोसि गरुत्मान् प्रष्ठे पृथिव्याः सीद भासान्तरिक्षमापृण। ज्योतिषा दिवमुत्तभानु तेजसादिशःउद दंह

॥ यजु ११-१२ ॥

हे जीव तू अपने को नहीं जानता। तू तो सुपर्ण है गरुत्मान है तू सुन्दर उड़ान उड़ने के लिये ऊँची उन्नति करने के लिये उत्पन्न हुआ है। तू सब शुभलक्षणों से युक्त तेरी आत्मा गुरु है गौरव युक्त बड़ा

महान है। तू एक घर का एक जाति या एक देश का नहीं, किन्तु सम्पूर्ण पृथिवी का पुरुष है पृथ्वी के पीठ पर स्थित होकर तू चमक और अपनी दीप्ति से अन्तरिक्ष को भर दे। यह द्युलोक जिन दिव्य पुरुषों से बना है थमा है उनकी सी दिव्यता तुझमें भी विद्यमान है। तू जरा अपनी आत्म ज्योति को चमका, जरा दिव्य ज्योति को भी प्रकाशित कर और इस तरह ऊपर उठता हुआ तू चारों दिशाओं को भी अपनी तेजस्विता से उन्नति करता जा। तेरा तेज दिगंन्तों तक ऐसा फैले कि तेरी साधना दिशाओं के मनुष्यों को भी साथ लेती हुई होवे उन्हें भी साथ में दृढ़ और उन्नति करती जावे तू साधारण आदमियों की तरह क्यों बैठा है। तू तो वह अग्नि है जिसने कि अपने प्रदीपन से संम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लेना है। तू उठ तू सुपर्ण है तू गरुत्मान् है।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न तेवज्रो नियंसते । इन्द्र नृमंणं हिते शवोहनोवृत्रंजया अप अर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ ऋ १-८०-३

हे इंद्र ! तू अपने राजत्व को अपने राज्य को नहीं अनुभव करता। यह शरीर राज्य यह सब अंदर का साम्राज्य तेरा ही है इस समय इस पर बेशक वृत्र ने कबजा कर रखा है। काम रूप, पाप रूप विदेशी शत्रु ने इसे दबा रखा है तेरी इन्द्रियां, तेरी मनोवृत्तियां, तेरी वासनायें, तेरी बुद्धियां भी इस समय उस वृत्र की ही गुलामी कर रही हैं परन्तु असल में हे इंद्र! ये तेरी ही प्रजा हैं। तू अब इन अपनी प्रजाओं का फिर राजा हो। अपनी इस स्वराज्य साधना के लिये उठ। आगे बढ़ मुकाबिला कर सब शत्रुओं को धर्षित कर। हरा। तेरे वज्र को इस संसार में कोई नहीं रोक सकता। क्या तू कहता है कि रागद्वेष दुर्जेय हैं नहीं तेरे संकल्प

वज्र के सामने कुछ भी दुसाध्य नहीं है, तेरी प्रतपीग्नि में सब रागद्वेष आदि क्लेश भस्मावशेष हो, जायंगे। तेरी स्वराज्य स्थापना में कौन बाधा डाल सकता है। क्या तू समझता है कि संस्कार बड़े प्रबल हैं। नहीं तू अपने बल को नहीं समझता। तेरा बल तो निसंदेह 'नृम्णर' है सब को नमा देने वाला बल है सच्चा बल है। दृढ से दृढ़ संस्कारों को भी हटा देगा, मिटा देगा। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे तेरा बल न मान देवे। इस प्रकार हे इन्द्र! तू अपने व्रज द्वारा अपने वीर्य द्वारा वृत्रासुर का हनन कर और विजयी होकर अपनी प्रजाओं को प्राप्त कर एवं हे इन्द्र! तू अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर, अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर।

इन्द्र वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः। इन्द्र वाणी रनूषत समोजसे ॥ ऋ० ८-१२-२२ ॥

देव लोग वृत्र वध के लिये इन्द्र को आगे करते हैं। इन्द्र को पुरोहित बनाते हैं। यह इंद्र ही है जो वृत्रासुर को बधकर सकता है। वैसे अध्यात्म में आत्मा इन्द्र है जो पाप्मा वृत्र का हनन करता है। भाइयो यह एक संग्राम है जिसमें प्राकृतिक वृत्र सदा हम पर हमला करता रहता है। और प्रायः सफल होता रहता है। हम जानते हैं यह पाप है यह नहीं करना चाहिये हम इन्द्रियों को रोकते हैं मन से विचार करते हैं और बुद्धि से निश्चय करते हैं, पर फिर भी रुक नहीं सकते। इसका कारण यह है कि हम आत्मा द्वारा पाप का नाश नहीं करते। हमने आत्मा को पीछे डाल रक्खा है। देखो इंद्रियों से परे मन है मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे जो है वह हमारा असली आत्मा है। यदि हम उस आत्मा को आगे ले आवें, पुरोहित कर लेवें इन्द्रियादि देवों को इस आत्माका

अनुयायी वश्यी पीछे चलने वाला बना देवें तो फिर वृत्रासुर कभी दुबारा हमारे सामने न आ सके इस का समूल नाश हो जावे। यह काम है यह स्वार्थ है जो सब पापों का जड़ मूल है। आत्म प्रकाश हो जाने पर इस स्वार्थ का हममें कुछ काम नहीं रहता विलीन हो जाता है। आत्मा के इस ओज प्रकट होने में वेद वाणियां स्तुतियां बहुत सहायक होती हैं, वेद मंत्र जो इन्द्र की स्तुतियों से भरे पड़े हैं वे इसी लिये हैं कि हम इस दिव्य वाणी द्वारा आत्मिक ओज को अपने में सम्यक्तया प्रकट कर लेवें और उस द्वारा महाबली वृत्र को संहार कर देवें। अतः आओ, भाइयो! हम भी इंद्र को पुरोहित करके अपने से वृत्र का समूल नाश कर लेवें और इसके लिये अपने में आत्मिक ओज को स्तुति प्रार्थनाओं द्वारा सम्यक्तया भर लेवें।

अकर्मा दस्युरभि नोअमन्तु रन्धव्रतो अमानुषः। त्वं तस्या मित्रहन् बधोदासस्य दम्भव ॥ ऋ० १०-२२-८ ॥

हे परमेश्वर तेरा अमित्र तेरा शत्रु कौन हो सकता है, तेरा शत्रु होकर कोई इस तेरे संसार में कैसे रह सकता है? नहीं, मनुष्य तो इतना गिरता कि वह तेरा शत्रु बनता है। वह तेरा शत्रु तब होता है जब वह तेरे संसार से शत्रुता करता है जब वह संसार का उपक्षय करने वाला दस्यु बनता है। 'दस्यु' वह मनुष्य होता है जो अकर्मा होता है जो कर्महीन होता है जो विना कर्म किये जीना चाहता है बिना श्रम किये खाना चाहता है ऐसा मनुष्य अपने इस अकर्म द्वारा जगत् का उपक्षय करता है इसलिये वह 'दस्य' या दास नाम से कहलाता है। ऐसा दस्यु 'अमन्तु'

अमनन शील होता है । यदि वह मनन करने लगे तो वह कभी अकर्मा, वद दस्यु न रहे । पर वह तो अन्य व्रत होता है, कुछ अन्य ही प्रकार के उलटे व्रत लिये होता है, वह मनन क्यों करेगा ! वह तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सत्य व्रतों से उलटा हिंसा, असत्य, स्तेय आदि के कर्मों को निशङ्क होकर करता है । अतएव वह 'अमानुष' मनुष्यता से गिरा हुआ नाम धारी ही मनुष्य होता है । ऐसा मनुष्यत्वहीन मनुष्य तुझसे अमित्रता न करेगा तो और क्या करेगा । ऐसा दास के लिये इस प्रकार जगत् का उपक्षय करने वाले के लिये तू बध रूप हो जाता है । हे इन्द्र ! तू सदा ही ऐसे दस्युओं का दमन करता रह, विनाश करता रह और इस प्रकार से संसार का रक्षण करता रह, पालन करता रह ।

यो जागार तमृचः कामयंते,यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥ ऋ ५-४४-१४

संसार में परिपूर्ण जाग्रत तो एक ही है, वह अग्नि परमात्मा है । वह सर्वथा अनिद्र है । त्रिकाल में जाग्रत है उसमें तमोगुण का अज्ञान व आलस्य का, स्पर्श तक नहीं है । अतएव सब ऋचाओं, संसार की स्तुतियां उसी को चाह रही हैं । सब सामों का, मनुष्यों के लिये सब यशोगानों का, सब स्तुति गीतियों का भाजन भी वही एक परमदेव हो रहा है । और देखो वह समस्त भोग्य संसार भोग्य बना हुआ यह सोम रूप ब्रह्माण्ड उसी एक जागरूक अग्नि देव के पैरों में पड़ा हुआ कह रहा है, 'मैं तेरा हूं' तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी ही मित्रता से

मेरा निवास हो रहा है, तुम से हट कर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।

इसी तरह हम मनुष्य जीव भी यदि अपनी शक्ति भर सदा जाग्रत सावधान व कटिबद्ध रहेंगे ! तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्य युक्त अतन्द्र रहेंगे , आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्तव्य को तत्क्षण करने के लिये सदा उद्यत रहेंगे ! कभी प्रमाद न करते हुए बिना भूलचूक किये अपने कर्तव्य को ठीक ठीक करने के अभ्यासी हो जायेंगे तो हम भी उतने अंश में अग्नि रूप हो जायेंगे और तब जागने वाले हम भी उसी अंश में सब लोगों के और प्रजाओं व यशोगान के अधिकारी भी हो जायेंगे तथा अग्नि और सोम का भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध होने के कारण सब भोग्य पदार्थ हमारे सामने हाथ जोड़ कर खड़े हो जायेंगे और कहेंगे कि हम तुम्हारे हैं।

परन्तु वास्तविक भोक्ता होना आसान नहीं, संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुए हैं । परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग जिस के कि पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है, जो लोगों को मिलता नहीं; वही ऐश्वर्य जाग्रत पुरुष के सामने हाथ बांध कर सेवक होकर शरण पाने के लिये आ खड़ा होता है । अतः हे मनुष्यो जागो जागो सदा जागते रहो। तामसिकता छोड़ो और निरालस्य जीवन का अभ्यास करो । जागरूकों के लिये ही यह संसार है, सत्यता, लोकमान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहने वालों के ही लिये हैं।

सहोवाच वारे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञानं इदं सर्वं विदितम्।

वृहदारण्यक उपनिषद् ४-५-६

याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि ऐ मैत्रेयी! पति को इच्छा से पति को प्यार नहीं करती, किन्तु आत्मा की इच्छा से। ऐसे ही सन्तान की इच्छा से सन्तान को प्रेम नहीं करते, किन्तु आत्मा की इच्छा से सब को प्रेम करते हैं। आत्मा ही ऐ मैत्रेयी! देखने सुनने और जानने के योग्य है। केवल एक आत्मा के जानने से ही सब जगत् जाना जाता है। यहां पर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इस जगह जीवात्मा को देखने सुनने और जानने योग्य बताया है वा परमात्मा को? प्रेम रखने से तो भोगने वाला जीवात्मा ज्ञात होता है।

आत्मा के जानने से सब का ज्ञान हो जाने के कारण परमात्मा का बोध होता है परन्तु जब पूर्णतया विचार करके देखते हैं तो उस स्थान पर परमात्मा का ही का ग्रहण होता है क्योंकि सारे वाक्य का अर्थ उसी में पाया जाता है, क्योंकि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था कि उस धन से मुक्ति की आशा नहीं। उस पर मैत्रेयी ने कहा कि जिस से मुक्ति न हो उसको मुझे क्या करना इस कारण जिससे मुक्त हो जाय आप उसी का उपदेश करें उस पर याज्ञवल्क्य ने यह सब आत्मोपदेश किया, क्योंकि मुक्ति सिवाय परमात्मा के जानने के हो नहीं सकती। इस कारण यहाँ आत्मा शब्द से परमात्मा ही लेना चाहिए। क्योंकि जीवात्मा

अल्पज्ञ और आनन्द रहित है । आनन्द की इच्छा से स्त्री, धन, पुत्रादिकों में भटकना पर इनमें आनन्द नहीं, आनन्द का सच्चा स्रोत परमात्मा ही है ।

भाइयो ! यह एक संग्राम है कि जिसमें प्राकृतिक वृत्र सदा हम पर हमला करता रहता है, और प्रायः सदा सफल होता रहता है, इसी लिये इस जीवन संग्राम में सफलीभूत होने के वास्ते एक जानकार गुरु की परमावश्यकता है जब हम एक संसारी कामना के लिये एक जानकार को चाहते हैं ।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितम मन्यमानाः दंद्रम्यमाणाः परियन्त मूढ़ा अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः ॥ कठ० २ मं० ५

अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान के प्राप्त करने में लगे हुये अपने आप को धैर्यवान और ज्ञानी कहने वाले नीच गति को पहुंच जाते हैं जैसे किसी अन्धे के पीछे लग के अन्धा कूएँ में जा गिरता है । क्या ही उत्तम उपदेश है कि जो प्रेष्य मार्ग अर्थात् सांसारिक विषयों में फंसे हुए अपनी आत्मिक दशा को बिगाड़ रहे हैं और किसी समय भी इन बातों को नहीं विचारते कि मैं क्या हूं मेरे को क्या लाभदायक और क्या हानिकारक है वरन् ऐसे विचारने वालों को अज्ञ और मूर्ख कह कर इनके ज्ञान को जो सत्य सुख का कारण है । तमोमय कहकर अर्थात् भ्रम बता कर अपने मिथ्या ज्ञान को सत्य बताते हैं इनकी वही अवस्था है जैसे एक अंधे के पीछे लगकर दूसरा अन्धा कूएँ में जा गिरता है । ऐसे सौन्दर्य प्रकृति पूजकों का अनुसरण करते हुए जीव बहुत ही नीच गति को पहुंच जाते हैं, जिनको अपनी सत्ता

का तो ज्ञान नहीं परन्तु प्रतिज्ञा संसार के विज्ञान जानने की करते हैं। यह लोग स्वयं भी कष्ट पाते हैं और अपने अनुयायी सहस्रों को वैदिक धर्म के स्थान से विषयों से फंसा कर पाप करते हैं, क्योंकि संसार की जितनी एहिक प्रत्यक्ष सुखद वस्तु है इन सबका सम्बन्ध शरीर से है जो क्षण भंगुर है जो पैदा हुआ वह नाश होने वाला है। अतः जो शरीर सहस्रों प्रकार का परिश्रम करने पर जीवित नहीं रहता तथा जो आत्मा कभी नहीं मरती; तो आत्मा को छोड़ कर शरीर का दास बनना मूर्खता नहीं तो क्या है ? ऐसी कोई सांसारिक वस्तु नहीं।

ओं न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकं अंतरं बभूव। नीहारेण प्रावृता जल्प्याचासुतृप्त उक्थ शासश्चरन्ति॥ ऋ० १०।८२।७॥

देखिये वेद स्पष्ट कहता है। हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते कि जिसने यह सब भुवन बनाये हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है। तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा हो गये हो। तुम्हारा उससे बहुत फर्क पड़ गया है। मनुष्य का तो उसके प्रभू के साथ अन्तर नहीं होना चाहिये। वह प्रभु तो हम मनुष्यों की आत्मा का भी आत्मा है। इससे अधिक निकटतम वस्तु तो हम से कोई है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। फिर वे हम से दूर क्यों हैं ? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच प्रकृति का पर्दा आगया है। हम दो प्रकार के पर्दों में ढके हुये हैं जिससे कि इतना निकटस्थ भी वह हमसे इतना दूर हो गया है। एक प्रकार के (तमोगुण बहुल्य) लोग तो नीहार अज्ञान से ढके हुये हैं जिस की धुंध में इतने पास में भी उन्हें नहीं देख पाते, दूसरे

(रजोगुण वहुल) लोगों ने "जल्पि" से विद्या के शब्दाडम्बर से पढ़ी लिखी मूर्खता से, निरर्थक जल्पना के परदे से अपने आप को ढक लिया है। ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी दिशा में इतनी दूर होते गये हैं कि प्रभू से दिनों दिन दूर होते गये हैं। नीहारा-वृत लोग तो संसार में "असुतृप्त" होकर विचर रहे हैं। वे खाते पीते मौजकरते हुये निरन्तर अपने प्राणों के ही तर्पण करने में ही लगे हुये हैं। कामनाओं इच्छाओं का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण में ही है। ये ज्यों २ अपनी बढ़ती हुई अनगिनत कामनाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओं को पुष्ट करते जाते हैं त्यों २ वह प्रभू से दूर होते जाते हैं। इसी तरह दूसरे जल्पावृत लोग "उकथ-शास होते हैं। अर्थात् संसार में बड़े २ शास्त्र पढ़कर वादविवाद वितण्डा में चतुर होकर दूसरों को जोर दार व्याख्यान देते फिरते हैं पर अपने आप को नहीं पहचानते। ये जितने भारी वक्ता लेखक और शास्त्रार्थ कर्ता होते जाते हैं उतने ही ये वाह्य शब्द जाल में ऐसे उलझते जाते कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं अतः अंदर के आत्मस्थ प्रभू से दूर होते जाते हैं।

इसलिये आओ अपने अंदर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा को पालेवें जिस के साथ हमेशा जुड़ा रहना चाहिये जो आत्मा के लिये लाभ दायक हो। नित्य आत्मा के लिथे अनित्य वैषयिक पदार्थ किसी प्रकार लाभदायक नहीं हो सकते। नित्य के वास्ते विद्या और तप दोही कल्याण कारक वस्तुयें हैं। श्रेय मार्ग पर वही मनुष्य जाते हैं जो अविद्या की जंजीरों को काट कर विद्या के अमृत का स्वाद लेते हैं इस से—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वराभिवोधत। ऋषि कहता है कि ऐ! आलस्य निद्रा में सोने

वालो, तुम्हारी यह अविद्या की निद्रा तुम्हारे लिये भयानक है इस से चेतन होकर उठो। और खोज करके ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाओ। क्योंकि जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले तब तक तुम अपनी वास्तविक अवस्था को नहीं जान सकते। जिन को अपनी सत्ता का ज्ञान ही न हो वह अपने लाभ हानि को नहीं समझ सकता और जिस को हानि लाभ का ज्ञान न हो वह किस प्रकार दुःखों से मुक्त होकर आनन्द को प्राप्त कर सकता है। वर्तमान युग में सच्चे ऐसे गुरु महर्षि स्वामी दयानन्द जी ही हैं कि जिन्होंने अपना जीवन पर्यन्त परोपकार में लगा हम को सच्चा रास्ता बताया कि जिससे हम अभ्युदय और निः श्रेयस दोनों प्राप्त कर सकते हैं। उसी के मानिंद जैसे एक शेर का बच्चा अज्ञानतावश भेड़ों की टोली में मग्न हो रहा था। एक शेर ने आकर उसकी इस शोचनीय दशा को देखा और उसको इस दशा से मुक्त करने का विचार किया कि इसको इस दशा से मुक्ति का केवल एक ही उपाय है कि वह अपनी वास्तविक दशा को जाने स्वावलम्बी बने, ध्यान दिलाया तू तो शेर है क्या भेड़ों की तरह जीता है। भाइयो! ऋषि दयानन्द जी ने हम को बता दिया कि तुम में भी पूर्व महापुरुषों की सी योग्यता विद्यमान है; वह परमेश्वर के अवतार न थे पर जिनके अन्दर के पट खुल जाते हैं उनके जीवन का उद्देश्य ही परोपकारी हो जाता है। वही औतारी जीव कहे जाते हैं। इससे प्रयत्न करिये "**प्रयत्नेन कार्याणिसिद्ध्यति न मनोरथैः।**" इस से अपनी सत्ता का ध्यान रखते हुये सात जो उपाय हैं उनको हमेशा सदा अमल में लावें (१) अपनी सत्ता को बोध **सुपर्णोऽसि गरुत्मान** य० १२। (२) परमात्मा की उपासना **सखाओ ब्रह्मवाहसेसहि नो प्रमतिर्मेही** ऋ० ६।४५

(३) आसन व्यायाम प्राणयाम दह्यन्ते ध्माय मानाना धातूनां यथा मलाः। (४) भोजन सात्विक होना चाहिये कहते हैं जैसा खाये वैसा बने मन, और मन एव मनुष्याणाम् कारणं बंध मोक्षयोः (५) एक लक्ष्य को ध्यान रखना—बगैर ध्यान रखने से सफलता होनी असम्भव है (६) सत्संग—बिना सत्संग विवेक न होई—स्वाध्याय श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षातकार (७) स्वकर्तव्य अनाश्रिता कटिबद्ध हो करना चाहिये—

योगस्थः कुरुकर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
कायेन मनसा बुद्ध्याकेवलै इन्द्रियैरपि ॥ गी० २।४८॥
संन्यासः कर्मयोगश्चनिःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्म संन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ गी० ५—२ ॥

होकर उदय उस सूर्य सम जग में उजाला मैं करूं।
अज्ञान का तम शीघ्र ही हम तेज से अपने हरूं ॥
बरसूं जगत में जलद सा जीवन करूं सब का हरा।
फूलें फलें हिलमिल रहें वन स्वर्ग जावे यह धरा ॥
यह कामना पूरी करूं हे ईश यह वरदान दो।
यह जग बनादूं मैं सुखी ऐसा मुझे सत ज्ञान दो ॥
वह तेज मुझ में डाल दो, जग में उजाला मैं करूं।
होकर प्रकाशित सूर्य सा, जग का अंधेरा सब हरूं ॥
होकर उदय उस—

वह शक्ति हमें दो दया निधे कर्तव्य मार्ग पर डट जावे।
पर सेवा परोपकार कर निज जीवन सफल बनाजावें ॥
छल छिद्र द्वेष पाखंड झूठ अभिमान से निशदिन दूर रहें।
कर जीवन शुद्ध सरल अपना शुचि प्रेम सुधा बरसाजावें ॥

हम दीन दुखी निवलों विकलों के सेवक बन संताप हरें।
जो हैं अटके भूले भटके उनको तारें खुद तर जावें॥
निज आन मान मर्यादा का पिता ध्यान रहे अभिमान रहे।
जिस देश जाति में जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जाऊं॥

वह शक्तिः—

अयं कविर कविषु प्रचेता मर्तेष्वग्नि रमृतोनिधायि।
समा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदात्वे सुमन सः स्याम॥

ऋ० ७. ४. ४.॥

हम क्या हैं! यह हम नहीं जानते। हम जिसे हम समझते हैं वह तो केवल बहुत सी विनश्वर वस्तुओं का ढेर है। फिर भी जो हम में ज्ञान चेतन्य, शक्ति आनन्द दिखाई देता है वह जिस वस्तु के कारण है वही हमारे अन्दर एक मात्र अविनश्वर तत्व है। यह हमारा अग्नि है, आत्मा है, और वही असली हम हैं। इन हमारे देह इन्द्रिय आदि भौतिक जड़ वस्तुओं में वही एक मात्र (प्रचेता) है चेतन है इन अकवियों में वह कवि है, इन अक्रान्त दर्शियों में वह क्रान्तदर्शी है, इन बोल न सकने वालों में बोलने की शक्ति देने वाला है, इन असुन्दर अकाव्य मय वस्तुओं में सुन्दर काव्यमय है। वही इन विनाश शील मरने वालों मर्त्य अनग्नियों में एक अविनश्वर अमृत अग्नि है। वही असली हम हैं, आत्मा हैं। ओह! इसकी उपेक्षा कर जो अब तक हम दिन रात दूसरी जड़ क्षणभगुर वस्तुओं को सेवा शुश्रूषा करने में लगे रहे हैं यह हमने कितना अनर्थ किया है? हे आत्मन् आज तुझे पहचान कर हम देखते हैं कि इन्द्रिय मन प्राण आदि में जो बल तेज सामर्थ्य दिखाई देता है वह इन में नहीं है, वह तो सब तुझमें है। इस लिये हे अग्ने! सहस्वः। हे बल तेज शक्ति के भंडार। तू इस

संसार में मेरा कभी विनाश मत कर। हमने अब तक बेशक अपनी तुझे अग्नि को भूल कर बड़ा आत्म घात किया है। पर अब हम कभी ऐसा आत्म घात न करेंगे। अब एक मात्र तेरी ही प्रसन्नता चाहिये। यह सब जग बेशक रुठ जाय, पर अब हम तुझे कभी न रुठने देगें। हे अन्दर बैठे आत्मन! जब तक तुम हमारे प्रति सुमना हो, चाहे फिर दुनिया हमें निंदा करे धिक्कारें हमें कुछ परवाह नहीं। इस सब मर्त्य दुनिया को छोड़ कर हम केवल तुझे प्रसन्न रखेंगे। चूंकि तू ही सब कुछ है निश्चय से हमारा सब कुछ है।

सनः शक्रश्चिदा शकद् दानवाँ अन्तराभरः।
इन्द्रो विश्वाभिरुतिभिः॥ ऋ ८—३२—१२

वे शक्र परमेश्वर हमें भी शक्ति संयुक्त करें। हम अशक्त पग पग पर गिरने वाले असमर्थ शक्ति याचना के लिये और वहां जावें? सिवाय उस सर्व शक्तिमान इन्द्र के शक्ति प्राप्त की आशा हम और कहां लगावें? ओह वे शक्र तोदान वाने हैं और 'अन्तराभर हैं। उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कभी किसी से कुछ लेना नहीं है उन्होंने तो सदा सब को देना ही देना है। ऐसे दानवान होकर वह हमारे अन्तरों को कीमयों को और हमारे छिद्रों को भरने वाले हैं हमारे अन्तस्तल को (उसके दोषों और त्रुटियों को पूरने वाले हैं। वे अन्दर से हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देने वाले हैं। वे इन्द्र चाहें तो हमें अपनी सब ऊतिओं से सब रक्षाओं से सब पालनाओं तृप्तियों से सब कमियां दूर कर सकते हैं और हमें अन्दर से भर कर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नति पथ पर चढ़ते हुये पग पग पर अपनी अशक्ति अनुभव कर रहे हैं। इस तरह

अपनी घोर अशक्ति भारी निर्बलता को अनुभव करते हुये ही हम आज शक्ति के भिखारी हुवे हैं। और जब से हमें ज्ञान मिला है कि हमें शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे अन्तर को भरने वाले वे शक्र प्रभु ही है तब से हम उन शक्र के दुआरे आ बैठे हैं। हम आज साक्षात् देख रहे हैं कि उन शक्र के सिवाय इस संसार में और कोई शक्ति का देने वाला नहीं है हमारे अन्तर को भरने वाला नहीं है ओह अब तो वह शक्र ही शक्ति से मुक्त कर देवें. वे सर्व समर्थ इन्द्र ही हमें सामर्थ्य प्रदान कर देवें।

त्व ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन मता।
सखा सख्या समिध्यसे॥ ऋ० ८—४३—१४

हे अग्ने! तू निसंदेह अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है। जैसे इस संसार में आग से आग जलाई जाती है, जैसे एक ज्ञानी विप्र द्वारा दूसर मनुष्य भी ज्ञान सम्पन्न हो जाता है विप्र आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी ज्ञान से समिद्ध हो जाता है, जैसे एक श्रेष्ठ सात्विक पुरुष से भो सात्विक भाव जग जाते साधू के सत्संग से दूसरा साधू हो जाता है, और जैसे सच्चे मित्र द्वारा दूसरे में भी मैत्री भाव पैदा हो जाता है सच्चे प्रेम द्वारा दूसरे में भी प्रेम उपज जाता है वैसे ही अग्ने मेरे परम आत्माग्नि मैं जान गया हूं कि तू आत्माग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मुझ अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मैं अग्नि बनकर अपनी आत्मा को तेजस्वी करके ही तुझे अपने में प्रदीप्त कर सकूंगा। मैं ज्ञानी विप्र बन कर सच्चा ब्राह्मण बन कर ही तुम ज्ञान मय ब्रह्म को अपने में प्रकाशित कर सकूंगा। मैं श्रेष्ठ सज्जन सात्विक पुरुष होकर अपनी सज्जनता द्वारा अपने सात्विक भावों द्वारा ही तुझ 'सत्' को प्राप्त कर सकूंगा। और मैं अपने

सरल भाव द्वारा अपने प्रेम मय भक्ति भाव द्वारा ही तुझे सच्चे सखा को अपना सखा बना सकूंगा, हे ओ अग्ने ! मैं तुझे समिद्ध करूंगा अवश्य करूंगा मैं तुझे अग्नि द्वारा ही समिद्ध करूंगा। मैं अग्नि ज्ञान की श्रेष्ठता की अग्नि और प्रेम की अग्नि बन कर तुझे अपने में समिद्ध करूंगा।

कर कृपा पार उतारियो मेरी टूटी सी किश्ती है।
तुम अविनाशी अजर अमर हो सारे भूमंडल के घरहो।
सब के बाहर और भीतर हो पिता कारीगर बड़े भारी।
रची अजब सकल सृष्टी है। मेरी टूटी सी ॥
सब का न्याय करो हो न्यायी विना वजीर और विना सिपाही।
करो फैसला कलम न स्याही पिता ऐसे हो न्याय कारी।
नहिं गलती पड़ सकती है। मेरी टूटी सी० ॥
अव तक दुःख भोगे हैं भारी बड़ी हुई दुर्दशा हमारी।
अव हम आये शरण तुम्हारी हो तुम्हीं भक्त हितकारी।
तारो तो तर सकती है। मेरी टूटी सी० ॥
विना कृपा करुणानिधि तेरी कुछ नहिं पार बसाती मेरी।
तेजसिंह भारत की बेड़ी काट सकल दुख टारियो इनके।
हृदय कुमति बसती है। मेरी टूटी सी० ॥

हमने ली है फ़क़त एक तुम्हारी शरण,
हे पिता और कोई हमारा नहीं।
पतित पावन पिता आसरा दो हमें,
आसरा और कोई हमारा नहीं।
है अविद्या यहां ऐसी छाई हुई,
सब धर्म और कर्म की सफाई हुई।
आस तुम से पिता है लगाई हुई,
इस द्वारे सा और द्वारा नहीं ॥ हमने०

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितोगर्भिणीषु ।
दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥

ऋ० ३—२६—२

(जातवेदाः) ज्ञान व ऐश्वर्य वाला अग्नि (अरण्योः) अरणियों में (निहितः) छिपा हुआ होता है और यह वहां (गर्भिणीषु गर्भ इव) गर्भिणियों में गर्भ की तरह (सुधितः) अच्छी प्रकार धारित सुरक्षित होता है । (अग्निः) यह अग्नि देव (जागृवद्भिः) जागने वाले ज्ञान युक्त (हविष्मद्भिः) हवि वाले आत्म त्यागी (मनुष्येभिः) मनुष्यों द्वारा तो (दिवे दिवे) प्रति दिन ही (ईडयः) पूजित व प्रार्थित होता है ।

तुम कहते हो कि आत्मा दिखाई नहीं देता । पर यदि तुम इसे देखना चाहते हो तो तुम इस आत्माग्नि को प्रज्वलित क्यों नहीं कर लेते ? अरणि में या दिया सलाई में विद्यमान भौतिक अग्नि भी तो तब तक नहीं दिखाई देता है कि जब तक मन्थन (रगड़ने) द्वारा उसे प्रज्वलित नहीं किया जाता । तुम जरा अपने आप रूपी दियासलाई या अरणि से प्रणव (ईश्वर नाम) रूपी दियासलाई की डिब्बी पर उत्तरारणि पर ध्यान रूपी मन्थन करके देखो, तो तुम देखोगे कि तुम्हारा आत्माग्नि चमक उठेगा, जात-वेदा जाग उठेगा । अरे ! योग रूपी अरणि और स्वाध्याय रूपी उत्तरारणि के सम्बन्ध से तो अंतःकरण में परमात्मा तक प्रका-शित हो जाता है । यह ठीक है कि प्रारम्भ में यह आत्म ज्योति एक चिनगारी के रूप में ही प्रगट होती है । अतएव इस आत्म-ज्योति की इस इस समय इतनी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, जैसे कि गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ की रक्षा करती है । पर क्या हम

अपने इस ज्ञान गर्भ की कुछ रक्षा करते हैं? ओह! हम तो न जानते हुये बड़े भारी गर्भपात के पाप भागी हो रहे हैं। जैसे माता पिता रूपी अरणियों से प्रगट हुई संतान रूपी अग्नि प्रारम्भ में गर्भावस्था में होती है, वैसे ही हम सब मनुष्य शरीर पाने वालों के अन्दर जन्म से आत्म ज्योति गर्भित रहती है, जो कि हम में जीव के मनुष्य योनि सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है। पर हम लोग इस गर्भित 'सुधित' ज्योति को पालित पोषित कर बढ़ाने की जगह भोगादि में पड़ कर इसे दबा देते हैं, इस सुरक्षित गर्भ को बिनष्ट कर देते हैं। ओह! हम कितना भारी भ्रूण हत्या का पाप करते हैं। पुण्यात्मा हैं वे पुरुष जो इस गर्भित आत्मज्योति को बढ़ाकर इस द्वारा अपने आपको जगाते हैं, ज्ञानोपार्जन रूपी समिधा धानों से इस शिशु अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और जागृवत होते हैं तथा घृताहुति रूपी आत्म बलिदानों को दे दे कर इस अग्नि को प्रचण्ड भी कर लेते हैं, 'हविष्मत' होते हैं। संसार के महात्माओं को देखो, इन्होंने इसी प्रकार अपने में जातवेदा की चिनगारी को इतना बढ़ाया है कि आज वह सब कुछ भस्म कर सकने वाले महानल हो गये हैं, महाशक्ति महात्मा हो गये हैं। ये देखो! जागृवान, हविष्मान मनुष्य अपनी इस प्रज्वलित आत्माग्नि का प्रतिदिन हवन स्तुवन कर रहे हैं इसे और २ बढ़ा रहे हैं। इन के अन्दर ये आत्मदेव निरन्तर ज्ञानों और बलिदानों द्वारा पूजित और पोषित हो रहे हैं। उठो मनुष्यो! तुम भी अपनी आत्माग्नि को बढ़ाओ और जाग्रत होकर तथा हवि हाथ में लेकर इस आत्माग्नि को नित्य अधिक २ प्रदीप्त करते जाओ।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादं अतन्द्रा ॥ ऋ० ८ २—१८

(देवाः) देव लोग (सुन्वेन्तं) यज्ञ कर्म करते हुये (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं (नस्वप्राय स्पृयहन्ति) निद्रा शील सुस्तों को नहीं चाहते (अतन्द्राः) स्वयं आलस्य रहित ये देव लोग प्रमादं गलती भूल करने वाले का (यन्ति) नियमन करते हैं।

आलस्य मनुष्य का बड़ा शत्रु है। हम जो नित्य पाप करते उनमें से बहुतों का कारण मन की कुटिलता नहीं होती किन्तु बहुत बार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी बनते हैं। एवं बहुत से उपयोगी कार्यों को शुरू करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड़ देते हैं और आत्म कल्याण से वंचित रह जाते हैं। अतः आलस्य करने वाले कभी परमात्मा के प्यारे नहीं हो सकते। यों कहना चाहिये कि परमात्मा के देवता आलसियां को नहीं चाहते क्यों कि आलसी लोग देवों के चलाये इस संसार यज्ञ में उनको सहयोग नहीं दे सकते। परमात्मा इन देवों द्वारा परिपूर्ण व्यवस्था रखते हैं। इन द्वारा पूरा नियमन और अनुशासन चला रहे हैं। भूल गलती, अनुचिन्तता, अपराध, पाप का ठीक नियमानुसार दण्ड मिलता रहता है—बेचैनी, रोग, व्यथा, वेदना, क्लेश, मृत्यु आदि द्वारा हमें शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आज्ञाओं का उल्लंघन करें। यह देवता इस अनुशासन को बिलकुल अतन्द्र होकर बिलकुल चूक से रहित होकर कर रहे हैं। यह सत्य के देव उस सत्व गुण के बने हैं जो कि तमः को जीत कर तमः अपने वश में किये हुए हैं अतः आलस्य प्रमाद करने वाले तमोगुणी मनुष्य देवों के प्यारे कैसे हो सकते हैं ? अतः उन्हें देव बार बार प्रमादों के लिये दण्ड देकर उन्हें पुनः पुनः ठोकर मारते हुए जनाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत रूपी यज्ञ चला रहे हैं उसी के अनुसार उसकी अनुकूलता में जो भी मनुष्य काम करता

है वह सब यज्ञ कर्म ही हैं। मनुष्य को इस यज्ञार्थ कर्म के सिवाय और कोई काम न करना चाहिये। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस संसार के कुछ अच्छे, ऊंचे और पवित्र बनने में सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह कोई भी कर्म करना इस संसार यज्ञ के लिये सोम रस का सेवन करना है। जरा देखो, इन देवों के प्यारे लोगों को देखो, जो अपने प्रत्येक कर्म द्वारा संसार यज्ञ के सम्बर्द्धक हैं पोषक इस सोम रस को पैदा करते हुये और अपने इस कर्तव्य से सदा जाग्रत कटिबद्ध सन्नद्ध रहते हुये देव तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

वैदिक सूक्त

बालादेकमणीयस्कं उतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥१॥

अथर्व० १०। ८। २५॥

(एकं) एक (बालात) बाल से भी (अणीयस्कं) बहुत अधिक सूक्ष्म अणु है (उत) और (एकं) एक (न इव) नहीं की तरह (दृश्यंते) दीखता है (ततः) उससे परे (परिष्वजीयसी) उसे आलिंगन किये हुये उसे व्यापे हुये (देवता) जो देवता है (स) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारा है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्यमूर्धनि वचसा वेदयामसि ।२। ऋ० १०।१५१।१॥

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः) अग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त होती है और (श्रद्धया) श्रद्धा से ही (हविः हूयते) हवि दी जाती है, आत्म बलिदान किया जाता है। (भगस्य) सब भज-

नीय वस्तु के, भाग धेय धर्म के, ऐश्वर्य के (मूर्धनि) मूर्धा स्थान में (श्रद्धां) श्रद्धा को हम लोग (वचसा) वाणींद्वारा वेद वाणी द्वारा वेदयामसि, घोसित करते हैं, प्रकट करते हैं।

अहमिद्धि पितुः परि मेधामृतस्य जग्रभ।
अहं सूर्य इवाजनि ॥३॥ ऋ० ८।६।१०॥

(अहंइत्) मैंने तो (हि) निश्चय से (पितुः) पालक पिता (ऋतस्य) सत्य स्वरूप परमेश्वर की (मेधां) धारणावती बुद्धि को (परिजग्रभ) सब सरफ से ग्रहण कर लिया अतः (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होगया हूँ।

अहमेतान् शाश्वसतो द्वादेन्द्रं मे वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानां अवहन्मता हनं दृल्हा वदन्ननमस्युर्न मस्विन ॥४

ऋ० १०। ४८। ६॥

(ये द्वा द्वा) जो ये दो दो करके आने वाले द्वन्द (वज्रं इन्द्रं) मुझ वज्र वाले इन्द्र को (युधये अकृणवत्) युद्ध के लिये बाधित करते हैं, (एतान् शाश्वत आह्वयमानान् नमस्विनः) उन इन बड़े बलवान् दिखाने वाले और ललकारने वाले किन्तु अन्त में झुक जाने वाले द्वन्द्वों को (अहं अनमस्युः) मैं कभी न झुकने वाला (दृल्हा वदन्) दृढ़ वाणियां बोलता हुआ मैं आत्मा (हन्मना) अपने हथियार से अपनी वाक् शक्ति से या संकल्प बल से (अव अहनं) मार गिराता हूं।

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्तातृषाणः उभयाय जन्मने मयः कृणोषि प्रय आ च सूरये ॥५॥ ऋ० १–३१–७॥

(अग्ने) हे प्रकाशक देव (यः) जो (उभयाय जन्मने) द्विपुद चतुष्पद या मनुष्येतर दोनों प्रकार के जीवों के लिये (ततृषाणः) अत्यंत तृषित है प्यासा है (तं मर्त्यं) उस मनुष्य को (त्वं) तू (श्रवसे) यश के लिये (दिवे दिवे) प्रतिदिन (उत्तमे अमृतत्वे) श्रेष्ठ अमृ. पद में (दधासि) पहुंचाता है (सूरये) और उस ज्ञानी पुरुष के लिये तू (मयः) सुख (आकृणोषि) करता है (प्रयः च) और अन्न भी।

तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥६॥ ऋ० १।७।७॥

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं (वज्रिणः इन्द्रस्य) पाप वर्जक इन्द्र की (ये उत्तरे स्तोमाः) अधिक २ स्तुति करता जाता हूं उन सबसे भी (अस्य सु स्तुतिं) उसकी स्तुति का पार (नविन्धे) नहीं पाता हूं।

ना हम तो निरयादुर्गहैतत तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहुनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै।७।ऋ.४।१८।२

(अहं) मैं (अतः) इस संसारी रास्ते से (न निरयाः) नहीं निकलूंगा (एतत दुर्गहा) यह मेरे लिये कठिन है दुर्ग्रह है मैं तो (तिरश्चिता) सीधे मार्ग से (पार्श्वानि) सामने के पार्श्व से ही (निर्गमाणि) भेदन कर के निकल जाऊंगा। मैंने तो (बहूनि) ऐसे बहुत से (अकृता) अभी तक किसी से न किये गये कर्मों को (कर्त्वानि) करना है। (त्वेन) एक से मैं (युध्यै) लडूंगा जब कि (त्वेन) एक दूसरे से (संपृच्छयै) पूंछूगा नम्र हो कर उपदेश प्राप्त करूंगा।

[इन ७ मंत्रों की व्याख्या वैदिक विनय में देखें जगह न होनेके कारण सिर्फ शब्दार्थ ही दिये जा सके हैं]।